

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182863

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—881—5-8-74—15.000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H 801
K94S

Accession No.

G.H 2511

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त

हमारा साहित्यिक प्रकाशन

साहित्य-जिज्ञासा	ललिताप्रसाद सुकुल ४)
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय ६)
काव्य के रूप	गुलाबराय ४।।।)
साहित्य-समीक्षा	गुलाबराय १।।।)
हिन्दी-काव्य-विमर्श	गुलाबराय ३।।)
प्रबन्ध-सागर	यज्ञदत्त, एम. ए. ५।।)
मन की बातें	गुलाबराय ३)
अदश पत्र-लेखन	यज्ञदत्त शर्मा ७।।)
अदश भाषण-कला	" "
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे बाजपेयी ४)
हिन्दी-निबन्धकार	जयनाथ 'नलिन' ६)
सन्तुलन	प्रभाकर माचवे ५)
वाद-समीक्षा	कन्हैयालाल सहल ।।।)
समीक्षायाण	कन्हैयालाल सहल ३)
दृष्टिकोण	कन्हैयालाल सहल १।।)
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति	स्नातक-सुमन ३)
कला और सौन्दर्य	रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ३।।।)
रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	देवराज उपाध्याय ३।।।)
मे इनसे मिला (दूसरी किस्त)	पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ३।।)
प्रगतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त ७)
कहानी और कहानीकार	मोहललाल 'जिज्ञासु' ३)
हिन्दी के नाटककार	जयनाथ 'नलिन' ५)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय-विजयेन्द्र स्नातक ६)
प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व	हंसराज 'रहबर' ६।।)
सुमित्रानन्दन पन्त	शचीरानी गुटू ६)
महादेवी वर्मा	शचीरानी गुटू ६)
साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र 'सुमन'—योगेन्द्रकुमार मल्लिक ७)
साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ५)
तुलनात्मक अध्ययन	कृष्णचन्द्र शर्मा—देवीशरण रस्तोगी ३)
भाषा-विज्ञान-दर्शन	" " " १।।)

आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त

हिन्दी-साहित्य के विभिन्न ग्रंथों का सैद्धान्तिक
एवं इतिहासिक विश्लेषण

लेखक

क्षेमचन्द्र 'सुमन'
योगेन्द्रकुमार मल्लिक

दो शब्द

डॉ० नगेन्द्र एम. ए. डी. लिट्
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली

१९५४

आत्माराम एण्ड सन्स
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक

रामबहाल पुरी

आत्माराम एण्ड सन्स

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य तीन रुपया

मुद्रक

प्रमरजीतसिंह नलवा

सागर प्रेस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

दो शब्द

इस पुस्तक में हिन्दी-साहित्य का उपलब्ध मानकर साहित्य के विभिन्न अंगों का सैद्धान्तिक एवं इतिहासिक विश्लेषण किया गया है। लेखकों ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-शास्त्रों को अपने विश्लेषण का आधार बनाकर साहित्य के नवीन और प्राचीन सभी रूपों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को पूर्णतः आधुनिक बनाने का सचेष्ट प्रयत्न किया है।

मैं समझता हूँ गद्य-गीत, रेखा-चित्र और रिपोर्टाज का विवेचन सबसे पहले इस ग्रन्थ में हुआ है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से उपादेय है। परन्तु इसकी उपादेयता क्षेत्र-विस्तार तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत इसमें प्रत्येक विषय का वर्णन भी सांगो-पांग है। लेखकों ने इस बात का भी स्तुत्य प्रयत्न किया है कि वर्ण्य विषय से सम्बद्ध कोई बात साधारणतः छूट न जाय।

उच्च कक्षा के विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ एक विशेष प्रकार की होती हैं। उनको लक्ष्य करके लिखी गई पुस्तकों में एक ओर तो विषय का क्रमबद्ध और सांग विवेचन होना चाहिए जिससे कि विद्यार्थियों को विषय का व्यापक ज्ञान हो जाय, दूसरी ओर सिद्धान्तवाद की दुरुहता उनमें नहीं होनी चाहिए। वह इन कक्षाओं से आगे की स्थिति है जहाँ विशेष अध्ययन अपेक्षित होता है। आशा है प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ पूरी कर सकेगी।

निवेदन

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के इस उन्नयन काल में साहित्य के अन्य अंगों के समान समालोचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है । किन्तु इधर जो भी साहित्य निकला, उसमें या तो विभिन्न विश्वविद्यालयों के रिमर्च-स्कालरों द्वारा की जाने वाली शोध के अन्य ग्रन्थ हैं और या बिल्कुल ही परीक्षाओं के दृष्टिकोण से लिखी गई छात्रोपयोगी पुस्तकें । इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट संकलन-ग्रन्थ भी निकले हैं, जो हमारी प्रगति के परिचायक हैं ।

यद्यपि आलोचना के प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकें हिन्दी में पर्याप्त हैं तथापि उनमें ऐसी बहुत कम हैं, जिनमें साहित्य-समालोचन के सिद्धान्तों का समीचीन अध्ययन होने के साथ-साथ उसकी प्रमुख आलोच्य विधाओं का तटस्थ दृष्टिकोण से लिखा गया संक्षिप्त इतिहास भी हो । इसी अभाव को अनुभव करके हमने प्रस्तुत पुस्तक में इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया है कि हिन्दी-साहित्य के प्रमुख अंगों का शास्त्रीय और सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ तत्तद्विषयक संक्षिप्त इतिहासिक अनुशीलन भी हो । अभी तक जितनी भी ऐसी पुस्तकें हमारी दृष्टि में आई हैं अधिकांशतः उनमें साहित्य के केवल सैद्धान्तिक पक्ष को ही प्रस्तुत किया गया है और वे पर्याप्त विस्तृत और गुरु-गम्भीर भी हो गई हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में किया गया एक विनम्र किन्तु ठोस प्रयास है । हमने यथा सम्भव हिन्दी-साहित्य और उससे सम्बन्धित विविध कला-पक्षों की शास्त्रीय उपादेयता सिद्ध करके उनका संक्षिप्त अध्ययन भी काल-क्रम से उपस्थित करने की चेष्टा की है । इसकी शैली इतनी सरस है कि हिन्दी-साहित्य से रुचि रखने वाला साधारण-से-साधारण पाठक भी इस पुस्तक के माध्यम द्वारा हिन्दी-साहित्य और उसकी प्रमुख विधाओं का सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकेगा, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है ।

इस पुस्तक के लिखने में हमें जिन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जो सहायता उपलब्ध हुई है, उसके लिए हम उनके लेखकों तथा सम्पादकों का विनम्र आभार स्वीकार करते हैं । साथ ही हम आचार्य श्री हरिदत्त शास्त्री, श्री परमानन्द शास्त्री और श्री पद्मसिंह शर्मा कमलेश' को भी नहीं भुला सकते, जिन्होंने इस पुस्तक के लेखन के दिनों में अपने अनेक उपयोगी परामर्शों से हमें लाभान्वित किया है ।

जी. १०, दिलशाद गार्डन
शाहदरा (दिल्ली)

}

क्षेमचन्द्र 'सुमन'
योगेन्द्रकुमार मल्लिक

विषय-क्रम

पहला परिच्छेद—कला

पृष्ठ १ से ३ तक

अभिव्यक्ति का माध्यम १; लालन कला १; श्रोत्रे का मत २;
कला और जीवन ३; कला के भेद ३।

दूसरा परिच्छेद—साहित्य

पृष्ठ ४ से २० तक

साहित्य क्या है? ४; काव्य और साहित्य ४; पाश्चात्य दृष्टिकोण ५;
साहित्य तथा व्यक्तित्व ७; साहित्य तथा समाज ८; साहित्य तथा
दुःख ९; साहित्य तथा जातीयता ११; साहित्य तथा विज्ञान १२;
साहित्य के प्रेरणा-स्रोत १३; साहित्य का उद्देश्य १४; साहित्य तथा
रस १६; साहित्य में शैली की महत्ता १८; साहित्य का
अध्ययन १९।

तीसरा परिच्छेद—कविता

पृष्ठ २१ से ५८ तक

पद्य तथा गद्य २१; कविता का लक्षण २२; कविता क्या है? २४;
कविता के दो पक्ष २५; कविता में सत्य २८; कविता में अलंकारों
का स्थान ३०; कविता तथा संगीत ३२; कविता के भेद ३२;
भाव-प्रधान तथा विषय-प्रधान कविता का अन्तर ३४; प्रबन्ध-काव्य
के विविध रूप ३५; भारतीय महाकाव्यों की परम्परा ३८; हिन्दी
के महाकाव्य ३९; पाश्चात्य महाकाव्य ४७; खण्डकाव्य ४८;
मुक्तक काव्य ५०; प्रगीत-काव्य ५१; प्रगीत-काव्य का वर्गीकरण
५२; लोक-गीत तथा साहित्यिक गीत ५७।

चौथा परिच्छेद—उपन्यास

पृष्ठ ५९ से ९५ तक

उपन्यास का प्रादुर्भाव ५९; उपन्यास शब्द की व्याख्या और परि-
भाषा ६०; उपन्यास के तत्त्व ६२; उपन्यासों के प्रकार ८०;
उपन्यास तथा कविता ८४; उपन्यास और इतिहास ८५; हिन्दी-
उपन्यास का विकास ८६; पाश्चात्य उपन्यास ८८।

पाँचवाँ परिच्छेद—कहानी

पृष्ठ ६६ से ११५ तक

परिभाषा ६६; कहानी के तत्त्व ६८; कहानी का ध्येय १०५; कहानी का प्रारम्भ और अन्त १०६; कहानी के स्वरूप तथा कहानी कहने के ढंग १०७; कहानी और उपन्यास १०८; भारत का प्राचीन कहानी-साहित्य ११०; हिन्दी-कहानी का विकास १११; पाश्चात्य कथा-साहित्य ११३।

छठा परिच्छेद—नाटक

पृष्ठ ११६ से १७३ तक

व्युत्पत्ति और परिभाषा ११६; नाटक का शेष साहित्य में सम्बन्ध ११६; नाटक का महत्त्व ११७; नाटक के तत्त्व ११८; नाटक का उद्देश्य १३३; भारतीय दृष्टिकोण १३५; अभिनय तथा रंगमंच १३५; वृत्तियाँ १३८; रूपक के भेद १३८; उपरूपक के भेद १४१; भारतीय नाटक १४४; संस्कृत के कुछ प्रमुख नाटककार १४८; हिन्दी-नाटक १५१; पाश्चात्य नाटक १५८; एकाकी १६२; ध्वनि-नाटक १६८।

सातवाँ परिच्छेद—निबन्ध

पृष्ठ १७४ से १८७ तक

निबन्ध : गद्य-साहित्य की कसौटी १७४; निबन्ध शब्द का अर्थ और परिभाषा १७४; निबन्ध : एक वैयक्तिक कला १७५; अभिव्यक्ति का एक प्रकार १७५; निबन्ध, आख्यायिका और प्रगीत-काव्य की तुलना १७६; निबन्धों के प्रकार १७७; पाश्चात्य निबन्ध-साहित्य : सिंहावलोकन १७८; हिन्दी-साहित्य में निबन्धों का विकास १८१; हिन्दी के कुछ प्रमुख निबन्धकार : एक समीक्षा १८३।

आठवाँ परिच्छेद—गद्य-गीत *Lyrical Poetry*

पृष्ठ १८८ से १९४ तक

गद्य-गीत : एक स्वतन्त्र रचना-शैली १८८; परिभाषा १८८; प्रमुख तत्त्व १८९; गद्य-गीत का विकास १८९; हिन्दी के कुछ गद्य-गीत-लेखक : एक समीक्षा १९०।

नवाँ परिच्छेद—जीवनी : आत्म-कथा : संस्मरण

पृष्ठ १९५ से २०० तक

साहित्य की विधा १९५; विकास १९५; द्विवेदी-युग में जीवनीयाँ १९६; आत्म-कथा १९७; संस्मरण १९९।

दसवाँ परिच्छेद—रेखाचित्र-स्कैच

पृष्ठ २०१ से २०६ तक

परिभाषा २०१; उपादेयता २०१; कला-विधान २०२; साधना का पथ २०२; कला में उसकी सत्ता २०२; रेखाचित्रों के प्रकार २०३; हिन्दी में रेखाचित्र २०४ ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद—रिपोर्ताज

पृष्ठ २०७ से २१० तक

व्युत्पत्ति २०७; इतिहास २०७; कला और उद्देश्य २०८; हिन्दी में रिपोर्ताज २०९ ।

बारहवाँ परिच्छेद—आलोचना

पृष्ठ २११ से २३३ तक

समालोचना शब्द का अर्थ २११; आलोचना की हानियाँ और लाभ २११; आलोचक के आवश्यक गुण २१५; आलोचना के प्रकार २१७; समालोचना का उद्देश्य २२७; भारतीय आलोचना-साहित्य २२८; हिन्दी का आलोचना-साहित्य २२९ ।

एक : कला

१. अभिव्यक्ति का माध्यम

मानव चेतना-सम्पन्न प्राणी है। इस जगत् के सम्पर्क में आने के अनन्तर इस चेतना-सम्पन्न मानव-मन की अनुभूति ही कला के माध्यम से अभिव्यक्त हुई। इस अभिव्यक्ति के मुख्य रूप से दो भेद हो सकते हैं—(१) शारीरीय और (२) पदार्थीय।

१. मानव के अंग-प्रत्यंग में होने वाली अभिव्यक्ति को हम शारीरीय अभिव्यक्ति कह सकते हैं। उदाहरणार्थ नृत्य अथवा नाट्य में विविध शारीरिक मुद्राओं द्वारा मानव की अनुभूति अभिव्यक्ति ग्रहण करती है।

२. किसी पदार्थ पर अंकित चित्र इत्यादि पदार्थीय अभिव्यक्ति के अन्तर्गत गृहीत किये जा सकते हैं।

इनके तीन रूप प्रायः उपलब्ध होते हैं। जब अभिव्यक्ति मूल रूप से किसी शारीरिक आवश्यकता-मात्र की पूर्ति के लिए होती है और उसके द्वारा किसी रचना या कृति का जन्म नहीं होता, तो वह उपयोगी अभिव्यक्ति ही कहलायगी। उसका कलात्मक मूल्य कुछ नहीं। कुछ अभिव्यक्तियाँ उपयोगिता के साथ-साथ कुछ कलात्मकता को भी लिये हुए होती हैं। आदिम अवस्था में मानव द्वारा अंकित विविध जानवरों के चित्र जहाँ उसके भाव की अभिव्यक्ति करते थे, वहाँ ऐसा विश्वास है कि वे टोटके के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते थे। अतः वहाँ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में कला के साथ उपयोगिता की भावना वर्तमान थी।

२. ललित कला

जब अभिव्यक्ति में लालित्य या सौन्दर्य की प्रवृत्ति का समावेश हुआ तो उसे ललित कला के नाम से अभिहित किया गया।

यूरोप में आदर्शवादी विचारधारा (Idealistic School of Philosophy) के अन्तर्गत जीवन की मूलभूत समस्याओं का विवेचन करते हुए कला और काव्य का भी विवेचन किया गया है। इनके अनुसार दृश्य जगत् केवल मन का विचार (Idea)-मात्र ही है, उसकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं।

इसका स्वरूप मन की एक प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होता है और उसकी एक अन्य प्रक्रिया कलाओं के माध्यम से प्रकट होती है। कलाओं को मनोमय व्यापार स्वीकार करते हुए और उन्हें स्वतन्त्र रूप प्रदान करने के लिए काण्ट ने हमारे ज्ञान को विशुद्ध ज्ञान (Pure Reason) और व्यावहारिक ज्ञान (Practical Reason) के रूप में विभाजित करके कलाओं को इन दोनों के मध्य की वस्तु मानकर उसे अनुभूति (Judgement) के अन्तर्गत रखा। वस्तुतः काण्ट का मुख्य उद्देश्य कलाओं की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के साथ-साथ उनकी मानसिक आधार-भूमि पर बल देना था। व्यावहारिक ज्ञान और दार्शनिक ज्ञान के साथ ही कला भी एक स्वतन्त्र मानसिक सृष्टि है।

लगभग इसी आधार पर बाद में इटली के सुप्रसिद्ध कला-मीमांसक क्रोचे ने अपने अभिव्यज्जनावाद के सिद्धान्त की स्थापना की। क्रोचे ने मानव-मन की विचारात्मक (Theoretical) और व्यावहारिक (Practical), दो प्रकार की प्रक्रियाएँ स्वीकार की हैं—नैतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं को व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत गृहीत करते हुए उसने विचारात्मक प्रक्रियाओं को दो प्रकार का माना है—कल्पना के योग से कला की अनुभूति (Intuition) स्वयं प्रकाश ज्ञान और दूसरी तर्क (Logic) की क्रिया; जिससे तार्किक ज्ञान-विज्ञान, दर्शन इत्यादि का उदय होता है।

३. क्रोचे का मत

इस प्रकार क्रोचे कला को मुख्य रूप से एक आध्यात्मिक क्रिया स्वीकार करता हुआ उसका मुख्य आधार मनुष्य की अनुभूति—आन्तरिक—को मानता है। कला की इतिकर्तव्यता स्वयं प्रकाशित ज्ञान या अनुभूति की अभिव्यक्ति (Expression)-मात्र ही है। यह सूक्ष्म मानसिक प्रक्रिया अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वरो, रेखाओं और शब्दों के स्थूल आधार को ग्रहण करती है। यह अपने-आप में स्वतन्त्र और अखण्ड है। इसके भेदोपभेद नहीं किये जा सकते।

क्रोचे के सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि उसने कला को एक निरपेक्ष आध्यात्मिक—एक प्रकार की रहस्यमयी—अभिव्यक्ति मानकर उसे जीवन और समाज से स्वतन्त्र रखा है। वह न केवल नीति-निरपेक्ष है, अपितु

उसकी पूर्णता अथवा अपूर्णता या सुन्दरता अथवा असुन्दरता का भी प्रश्न नहीं उठता । क्योंकि कला सदा पूर्ण और सुन्दर है ।

४. कला और जीवन

वस्तुतः यह आक्षेप आदर्शवादी विचार-धारा के किञ्चित् सूक्ष्म अध्ययन से सर्वथा निराधार सिद्ध हो सकते हैं । कला और जीवन की स्वतन्त्र सत्ता तो हम तभी स्वीकार करें, जब कि जीवन और मानसिक अभिव्यक्ति को पृथक्-पृथक् मान लिया जाय । आदर्शवादी दार्शनिक तो यह मानते हैं कि यह बाह्य जगत् हमारे अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब है । उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं । हमारे जीवन की विराट् अभिव्यक्ति ही इस विराट् विश्व में हो रही है । दूसरे शब्दों में यदि हमारे मन की सत्ता है, यदि मानव-चेतना की अवस्थिति है, तभी यह दृश्यमान जगत् भी है । ऐसी अवस्था में कलागत अनुभूति को जीवन से पृथक् नहीं माना जा सकता । मानव की जीवन-अनुभूति ही कलागत अनुभूति का आधार बनती है । दूसरे शब्दों में जीवन की चेतना ही काव्य इत्यादि कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति ग्रहण करती है । इस अवस्था में क्रोचे के सिद्धान्त को हम जीवन निरपेक्ष नहीं मान सकते ।

५. कला के भेद

कला को एक अखण्ड अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए भी हम हीगेल के कला-विवेचन के आधार पर, अध्ययन की सुविधा के लिए, कलाओं का वर्गीकरण कर सकते हैं ।

हीगेल के विवेचन के अनुसार जिस कला में मूर्त आधार की जितनी ही कमी होगी या जिस आत्मिक अभिव्यक्ति के प्रकटीकरण में बाह्य सामग्री का जितना कम प्रयोग हुआ होगा, वह उतनी ही श्रेष्ठ होगी । इस आधार पर काव्य-कला ही सर्वश्रेष्ठ कला है । क्योंकि इसमें मूर्त आधार की कमी और आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता होती है । कलाओं की श्रेष्ठता का क्रम इस प्रकार हो सकता है—काव्य-कला, संगीत-कला, चित्र-कला, मूर्ति-कला, तथा वास्तु कला ।

इस ग्रन्थ में हम कलाओं में श्रेष्ठ काव्य-कला अर्थात् साहित्य की उपादेयता सिद्ध करके उसके विविध अंगों का विवेचन करेंगे ।

दो : साहित्य

१. साहित्य क्या है ?

कला के विवेचन में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मानव-मानस की अनुभूति सम्पूर्ण कलाओं का आधार बनती है और साथ ही यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि काव्य-कला इस अनुभूति के आविर्भाव के कारण और मूल आधार की कमी के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

साहित्य क्या है ? या उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर से पूर्व हमें यहाँ कुछ-एक शब्दों के वास्तविक अर्थ से परिचित हो जाना चाहिए। साहित्य शब्द का प्रयोग आजकल बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है, और उसके अन्तर्गत सम्पूर्ण लिखित या अक्षरों (Letters) में आयोजित सामग्री को ग्रहण किया जाने लगा है। यही कारण है कि समाचार-पत्र से लेकर औषधियों के विज्ञापन और मिनेमा के पोस्टर तथा अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र इत्यादि पर लिखे गए ग्रन्थ तक साहित्य समझे जाने लगे हैं। यह 'साहित्य' शब्द का भ्रामक प्रयोग है। हम साहित्य शब्द का प्रयोग सकुचित अर्थ में करते हैं, और उसी लिखित सामग्री को साहित्य समझते हैं जो कि प्रथम तो विषय की दृष्टि से किसी वर्ग विशेष से सम्बन्धित न होकर मानव-मात्र की रुचि से सम्बन्धित हो और दूसरा यह कि वह आनन्दप्रद तथा कलात्मक हो। इसी अर्थ में प्रयुक्त साहित्य शब्द वास्तविक साहित्य का परिचयक है, और इस वास्तविक साहित्य के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होता है। समाचार-पत्र तथा पोस्टर इत्यादि एक तो इसलिए साहित्य नहीं कि उनका शाश्वत मूल्य नहीं और दूसरे वह मानव-मानस की अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं। राजनीति या अर्थशास्त्र इत्यादि पर लिखे गए ग्रन्थ केवल बौद्धिक तुष्टि से सम्बन्धित हैं।

२. काव्य और साहित्य

इस प्रकार काव्य और साहित्य शब्द अपने अर्थ में अभिन्न हैं। काव्य शब्द से केवल कविता का ही बोध नहीं होता, कविता तो काव्य का अंग है। उसी प्रकार, जिस प्रकार कि नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के लक्षण के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकट किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. **अलंकार-मत**—दडी और भामह इस मत के अनुयायी थे । हिन्दी में केशवदास ने भी इसी का समर्थन किया है । ये आचार्य काव्य की आत्मा अलंकार या रचना-सौन्दर्य को ही मानते थे ।

२. **वक्रोक्ति-मत**—कुन्तक इस मत के समर्थक थे । पहले-पहल वक्रोक्ति अलंकारों के अन्तर्गत ही गृहीत की जाती थी, और वस्तुतः वक्रोक्ति—बात को घुमाव-फिराव से कलात्मक ढंग द्वारा कहना—भी एक प्रकार से भावाभिव्यक्ति का प्रकार ही है । परन्तु बाद में 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया ।

३. **रीति-मत**—इसका विज्ञापन वामन नामक आचार्य ने किया । उनके अनुसार 'रीतिरात्मा काव्यस्य' रीति ही काव्य की आत्मा है । रीति से वामन का अभिप्राय पद-रचना की विशेषता के अतिरिक्त और कुछ नहीं था ।

४. **ध्वनि-मत**—इसके प्रवर्तक आचार्य ध्वनिकार थे और इसके व्याख्याकार आनन्दवर्धन थे । इस मत के अनुसार काव्य में जो कुछ शाब्दिक रूप से वर्णित किया जाता है वही काव्य का परम लक्ष्य नहीं, अपितु काव्य का ध्वन्यार्थ या व्यंजित अर्थ ही परम उद्देश्य है । इन्होंने रस को महत्ता को स्वीकार किया और कहा कि भावों और रसों की व्यञ्जना करना ही काव्य का उद्देश्य है ।

५. **रस-सिद्धान्त**—इसके प्रतिपादक भरत मुनि और आचार्य विश्वनाथ माने जाते हैं । रस-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने काव्य में भाव की महत्ता को स्वीकार किया और उसीको काव्य की आत्मा माना । ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य रस-सिद्धान्त के विरोधी नहीं, वह सिद्धान्त रूप से रस को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं । शेष सिद्धान्त काव्य के कला पक्ष—या शरीर—पर ही अटक जाते हैं और उसकी आत्मा—भाव पक्ष या रस—तक नहीं पहुँच पाते ।

३. पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य विद्वान् विन्सेटर ने काव्य में निम्न लिखित तत्त्वों की आवश्यकता को स्वीकार करके उन्हीं के अनुसार साहित्य के लक्षण निर्धारित किये हैं—
(१) कल्पना-तत्त्व, (२) बुद्धि-तत्त्व, (३) भाव-तत्त्व और (४) शैली-तत्त्व ।

१. कल्पना-तत्त्व—इसको काव्य का मुख्य तत्त्व माना जाता है। क्योंकि इसीके द्वारा कलाकार भाव-लोक का सृजन करता है तथा प्रत्यक्ष और अमूर्त वस्तुओं को अपनी कृति में चित्रित करके पाठक के मानस-चक्षुओं के सम्मुख ला खड़ा करता है। कल्पना भाव-पक्ष की पुष्टि का सर्वप्रमुख साधन है।

२. बुद्धि-तत्त्व—इससे कलाकार के बौद्धिक उद्देश्य का स्पष्टीकरण होता है। जहाँ इस तत्त्व द्वारा साहित्य में कल्पना का नियन्त्रण होता है वहाँ काव्यकार इसके द्वारा अपने जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या भी करता है।

३. भाव-तत्त्व—इसको ही हमारे आचार्यों ने साहित्य या काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। इसके अभाव में साहित्य निश्चय ही निष्प्राण हो जाता है। इसका भावों से सीधा सम्बन्ध है। पाश्चात्य आचार्य भावों में तीव्रता लाने के लिए इन तत्त्वों को आवश्यक समझते हैं—(क) औचित्य, (ख) विशुद्धता, (ग) स्थिरता, (घ) विविधता, और (ङ) वृत्ति या गुण।

४. शैली-तत्त्व—इसका सम्बन्ध साहित्य के कला पक्ष से है, जब कि ऊपर के तीनों तत्त्वों का सम्बन्ध भाव पक्ष से था। भाषा भावों के लिए शरीर का काम करती है। जैसे निर्बल शरीर में स्वस्थ आत्मा का आवास कठिन है, उसी प्रकार अपुष्ट भाषा द्वारा पुष्ट भावों की अभिव्यक्ति भी कठिन है। साहित्य के पूर्ण गौरव का प्रकटीकरण शैली-तत्त्व की परिपक्वता पर आश्रित है।

ये चारों तत्त्व साहित्य में समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

इस विवेचन के अनन्तर हम साहित्य के विभिन्न लक्षणों की समीक्षा करके एक सामान्य लक्षण निर्धारित कर सकते हैं। 'काव्य प्रकाश' के रचयिता मम्मटाचार्य ने निर्दोष सगुण तथा अलंकारयुक्त रचना को काव्य माना है :

“तद्दोषो शब्दार्थो सगुणवानलकृती पुनः क्वापि।”

परन्तु यह परिभाषा संकुचित और अपूर्ण समझी जाती है, क्योंकि एक तो यह कला पक्ष पर अधिक बल देती है, और दूसरे किसी भी रचना का सर्वथा दोष-मुक्त हो सकना, कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है। इसको काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने रसयुक्त वाक्य को काव्य माना है : ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’। रस द्वारा भाव पक्ष और वाक्य द्वारा कला पक्ष को ग्रहण करके आचार्य ने एक अत्यन्त सरल तथा सूबोध लक्षण

निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रस गंगाधर' के कर्त्ता पण्डितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ के बतलाने वाले वाक्य को काव्य मानते हैं : 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' जिसके ज्ञान से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, वही रमणीय अर्थ है। तत्त्वतः आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं।

वस्तुतः विश्व-साहित्य का अध्ययन यही स्पष्ट करता है कि काव्य मानव की बाह्य और आन्तरिक अनुभूतियों और इस जगत् के प्रति भावात्मक प्रतिक्रियाओं का लेखा-जोखा है। या हम व्यापक परिभाषा के रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि "साहित्य चित्त को रसमग्न कर देने वाली व्यक्ति (अथवा मानव-जाति) की कल्पनाओं, आन्तरिक तथा बाह्य अनुभूतियों और विचारों का लिपिबद्ध रूप है।" हेनरी हडसन ने ठीक ही कहा है कि साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है।

४. साहित्य तथा व्यक्तित्व

साहित्य वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर प्रतिष्ठित है। प्रत्येक साहित्यिक रचना में साहित्यकार का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता है। यह ठीक है कि साहित्य के कुछ ऐसे प्रकार हैं जहाँ साहित्यकार प्रत्यक्ष न आकर अप्रत्यक्ष रूप से अपने पात्रों के माध्यम से हमारे सम्मुख अवतरित होता है। मुक्तक प्रगीत इत्यादि आत्माभिव्यञ्जक साहित्य में वैयक्तिक भावनाओं की प्रधानता रहती है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि वह साहित्य के प्रत्येक रूप में अपने माध्यम से इस जगत् के प्रति अपनी विविध प्रक्रियाओं को प्रकट करता है।

परन्तु यहाँ हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि साहित्यकार के व्यक्तित्व में हमारा क्या अर्थ है ? व्यक्तित्व अंग्रेजी के Personality शब्द का हिन्दी-रूपान्तर है। सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व के अन्तर्गत विचार—नैतिक तथा बौद्धिक—जीवन के प्रति दृष्टिकोण या स्वभाव और अहता को सम्मिलित कर सकते हैं। प्रत्येक साहित्यकार के व्यक्तित्व (Personality) का निर्माण उसके गुण या अवगुण, उसका स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य इत्यादि एक बृहत् सामाजिक, सांस्कृतिक और वंशगत पृष्ठभूमि में होता है।

१. It is fundamentally an expression of life through the medium of language.

साहित्य

५. साहित्य तथा समाज

साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण और उसकी अनुभूति तथा कल्पना एक सामाजिक देन है, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। क्योंकि यदि मानव-प्रकृति को हम मूल रूप से सामाजिक मानते हैं तो निश्चय ही कला और साहित्य के विभिन्न उपकरणों द्वारा अभिव्यक्त उसकी भावना और अनुभूति भी मूल रूप से सामाजिक और समाज की ही देन है। सामाजिक आवेष्टन में ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्तित्व के मूल में प्राप्य मानसिक असन्तुलन तथा अस्वास्थ्य (Personality disorganisation) इत्यादि हमारी सामाजिक संस्कृति में प्राप्त पारस्परिक विरोधों का ही प्रतिफलन है। यह ठीक है कि व्यक्ति के जीवन के व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रूप हैं, परन्तु व्यष्टि के आधारस्वरूप अह (Self) का विकास भी समाज में ही सम्भव है, समाज से बाहर नहीं। समाज में ही मनुष्य की भावाभिव्यक्ति परिष्कृत होकर साहित्य का आधार बनती है, समाज से बाहर मनुष्य तथा पशु की भावाभिव्यक्ति में अन्तर सम्भव नहीं।

मनुष्य की सामाजिक अनुभूति बदलते हुए समाज के साथ परिवर्तित होती रहनी है। प्रत्येक युग के समाज के अपने विधि-निषेध होते हैं, अपनी संस्कृति तथा मर्यादा होती है, जो मानव-चेतना की अनुभूति के स्वरूप को प्रभावित करते रहते हैं।

साहित्य पर समाज के इस प्रभूत प्रभाव के अनन्तर हमें समाज पर पड़े हुए साहित्य के प्रभाव को भी आँकना चाहिए। वस्तुतः हमें सामाजिक जीवन के इस आधारभूत सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में आदान-प्रदान होता रहता है। सामाजिक संस्कृति का निर्माण, कला और साहित्य से होता है, और संस्कृति सामाजिक मूल्यों का निर्माण करके समाज के भौतिक जीवन की गतिविधि को प्रभावित करती रहती है। वस्तुतः साहित्य और कला, विचार तथा आदर्श सांस्कृतिक रूप धारण करके अनेक सामाजिक परिवर्तनों के कारण बन जाते हैं। फ्रेच लेखक रूसो (Rousseau) में विचारों ने फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति के स्वरूप का निर्धारण किया, इसी प्रकार जॉन लॉक (John Locke) और मार्क्स (Marx) के साहित्य ने अमरीकन और रूसी राज्य-क्रान्तियों को प्रभावित किया। स्वयं हमारे देश के

‘रामायण’ और ‘महाभारत’ ने हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की गतिविधि को निर्धारित किया। तुलसीदास और कबीर, सूरदास और नानक ने हमारे मध्यकालीन भारतीय समाज की रूपरेखा और सस्कृति का निर्माण किया।

हम मार्क्सवादियों के इस कथन से कदापि सहमत नहीं हो सकते कि सामाजिक सस्कृति तथा कला और साहित्य, युग विशेष और समाज विशेष की, आर्थिक तथा यांत्रिक परिस्थितियों का प्रतिफलन (Reflection)-मात्र हैं, और साहित्यकार या व्यक्ति की चेतना केवल मात्र इन बाह्य या भौतिक परिस्थितियों का परिणाम है। व्यक्ति केवल सामाजिक परिस्थितियों का निस्सहाय प्रेक्षक (Passive observer)-मात्र नहीं हो सकता।

यह ठीक है कि प्रत्येक साहित्य के अधिकांश आदर्श, कलाकार के समाज के आदर्श होते हैं, या सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। यह भी ठीक है कि साहित्य के सभी आदर्श सर्वकालीन, चिरन्तन तथा सार्वदेशिक नहीं हो सकते। तुलसी की आदर्श सामाजिक व्यवस्था, वाल्मीकि का आदर्श परिवार और अन्य अनेक कलाकारों के प्रेम तथा परिवार के आदर्श आज यथा-पूर्व रूप में ग्राह्य नहीं हो सकते। परन्तु ‘वाल्मीकि, कालिदास या तुलसीदास के साहित्य में बहुत-से ऐसे तत्त्व हैं जो मनुष्य के विचार, भाव, कल्पना तथा अन्तर को युग-युगान्तर तक आन्दोलित, आकर्षित तथा आलोकित करते रहेंगे। ऐसे ही तत्त्व, जो मनुष्य के श्रेष्ठ एवं उच्चादर्श को अनुप्राणित करते हैं, उसे समाज, परिवार तथा स्वार्थमय जीवन की प्राचीर के आवेष्टन से मुक्त करके विराट् एकस्वरता (Harmony) स्थापित करने में सहयोग देते हैं, अमर साहित्य के निर्माण के कारण बनते हैं। ऐसे ही साहित्य को रोम्यों रोमाँ ने, धूमकेतु की तरह प्रचण्ड प्राण-शक्ति और प्रकाण्ड दीप्ति-सम्पन्न माना है।^१ साहित्य का यही रूप सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक होता है। ऐसे साहित्य की सृष्टि तभी सम्भव है जब कलाकार उच्च भावभूमि में पहुँचकर मानव-हृदय की उन भावनाओं और अनुभूतियों का वर्णन करता है, जो चिरन्तन हैं, सर्वकाल और सर्वदेश में समान हैं।

६. साहित्य तथा युग

प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ होती हैं, वे किसी-न-किसी रूप में उस

१. It is a comet sweeping eternity.

युग के साहित्य में वर्तमान रहती है । उन विशेषताओं के आधार पर ही हम साहित्य के इतिहास को विभिन्न युगों में बाँट सकते हैं ।

किसी भी युग की सामाजिक परिस्थितियाँ उस युग के साहित्य के स्वरूप-निर्धारण का कारण होती हैं । अंग्रेजी का स्वच्छन्दतावादी (Romantic) साहित्य इंग्लैण्ड में जाग्रत होती हुई मध्य श्रेणी के लोगों की व्यक्तिवादी विचार-धारा का ही परिणाम है । निस्सन्देह वहाँ अन्य सांस्कृतिक तत्त्व भी वर्तमान थे, परन्तु उन दिनों के सामाजिक वातावरण में व्याप्त व्यक्ति और व्यक्ति के अधिकारों की चर्चा और उसके साथ ही बदलती हुई समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं ।

मुख्य रूप से हमारे यहाँ के व्यक्तिवादी छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि में इस युग की सामाजिक परिस्थितियाँ वर्तमान हैं । छायावादी काव्य की विषय-वस्तु वैयक्तिक है, नैतिक धरातल पर भी उसमें जनतात्रिक भावनाओं की प्रधानता है, उसमें समत्व-भावना और व्यक्ति की महत्व-घोषणा को प्रमुखता दी गई है । इसका एक बड़ा कारण आज के युग की परिस्थितियाँ हैं विगत तीस-पैंतीस वर्ष के समय में जिस सामाजिक व्यवस्था का विकास हो रहा है । वह मुख्य रूप से व्यक्तिवादी है । उसमें व्यक्ति अपने-आपको अकेला (Isolated) पाता है । परम्परा से चली आती हुई सम्मिलित परिवार-व्यवस्था टूट रही है, वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना में पर्याप्त स्वतन्त्रता का प्रवेश हो रहा है । एक ऐसी नागरिक सभ्यता का विकास हो रहा है, जिसमें घनिष्ठ (Intimate) सम्बन्धों का अभाव है और गौण (Secondary) सम्बन्धों का आधिक्य है । ऐसे ही आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हुई, जो कि एक व्यक्तिवादी संस्कृति के प्रादुर्भाव में सहायक हो रही हैं । सारांश यह है कि कुल मिलाकर आज का नागरिक मुख्य रूप से अकेला (Isolated) है, और शताब्दियों की परम्परा के विपरीत वह आज स्वतन्त्र है । इसी कारण विगत वर्षों के साहित्य में सामन्ती राजा-रानियों के स्थान पर साधारण मनुष्य के साधारण मनोभावों और आकांक्षाओं का मिश्रण है । उसमें व्यक्ति का अपना सुख-दुःख अपनी परवशता और अपना विकास ही प्रकट हुआ है । इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के मध्य युग का अध्ययन करने पर उस काल के कवियों में मत, साधना-पद्धति और आचार-विचार-सम्बन्धा नाना भेदों के होते हुए हम कुछ ऐसा विचार-साम्य

पायेंगे जो कि उन्हें एक विशिष्ट श्रेणी के अन्तर्गत ला रखेगा ।

युग-निर्माता साहित्य और साहित्यकार भी समय-समय पर अवतरित होते रहते हैं ।

७. साहित्य तथा जातीयता

प्रत्येक साहित्यकार अपनी जातीय सस्कृति को उत्तराधिकार में प्राप्त करता है, और वह उन सब विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है जो कि उसके समकालीन और उससे पूर्व के लेखकों में समान रूप से उपलब्ध हो जाती हैं । एक ही जाति के साहित्यकारों में समान रूप से प्राप्त होने वाली विशेषताओं को ही हम जातीय विशेषताएँ कहते हैं । जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है और वह दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व से भिन्न होता है, उसी प्रकार प्रत्येक जाति का अपना व्यक्तित्व, अपना आदर्श और अपनी विचार-धारा होती है, जो कि दूसरी जाति के व्यक्तित्व, आदर्श और विचार-धारा से पर्याप्त भिन्न होती है । यह भिन्नता प्रत्येक जाति के साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है ।

जातीय साहित्य से हमारा तात्पर्य कलाकारों द्वारा समान रूप से प्रतिपादित विचार-धारा और चिन्तन-पद्धति से है ।

भारतीय साहित्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जो सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में समान रूप से उपलब्ध हो जाती हैं । ये विशेषताएँ इस प्रकार हो सकती हैं—

१. धर्म-प्रधान आध्यात्मिकता भारतीय साहित्य और जीवन की प्रथम विशेषता है । वस्तुतः क्या साहित्य, क्या समाज और क्या राज्य सभी पर धर्म-प्रधान आध्यात्मिकता का एक अमिट प्रभाव विद्यमान है ।

२. धर्म-प्रधान आध्यात्मिकता का ही एक दूसरा रूप जीवन और साहित्य में आन्तरिकता का प्राधान्य है । हमारे देश के कवि, दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता सभी ने भौतिक सुख की उपलब्धि का प्रयत्न किया । परिणामस्वरूप साहित्य और दर्शन में यहाँ के मनीषियों का दृष्टिकोण बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख ही रहा । वाल्मीकि, व्यास या मीरा, तुलसी और कबीर इत्यादि का साहित्य इस बात का प्रमाण है ।

३. तीसरी बड़ी विशेषता हमारे साहित्य की यह रही है कि हमने विभिन्न

विरोधी तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यह समन्वय साहित्यिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, वस्तुतः यह हमारे सम्पूर्ण जातीय जीवन की विशेषता रहा और उसका सभी क्षेत्रों में प्रकटीकरण हुआ।

४. चौथी बड़ी विशेषता जीवन के प्रति मंगलमय और आदर्शवादी दृष्टिकोण है। भारतीय साहित्य और जीवन में यह समान रूप से लक्षित किया जा सकता है।

भारतीय साहित्य के विपरीत पाश्चात्य साहित्य में राष्ट्रीय और भौतिक भावनाओं की प्रधानता रही है। ग्रीक और रोमन संस्कृति के केन्द्र नगर-राज्य रहे और दोनों में ही विचारकों ने राज्य की समृद्धि और उन्नति में व्यक्त के जीवन का चरम लक्ष्य माना। बाद के यूरोपीय साहित्य में यूनान और रोम से प्राप्त इन विचार-धाराओं का किसी-न-किसी रूप में अनुसरण होता रहा।

८. साहित्य तथा विज्ञान

साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में निम्न मौलिक भेद हैं—

१. साहित्य का सम्बन्ध हमारे मन से है। वह हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति है। साहित्य में हम मानव की कल्पनाओं का, उसके स्वप्नों का और उसके आदर्शों का प्रतिबिम्ब पाते हैं।

२. विज्ञान का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क से है। उसका क्षेत्र भावना का नहीं बुद्धि-विलास का है।

३. साहित्य हमारी भावनाओं को तरंगित करके हमारे हृदय को रस-प्लावित करता है।

४. विज्ञान एक विशिष्ट सत्य को प्रतिष्ठित करके हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करता है। विज्ञान का क्षेत्र मुख्य रूप से बाह्य जगत् है। और वैज्ञानिक का दृष्टिकोण प्रायः यथातात्थ्यिक (Matter of fact) होता है।

५. साहित्य मुख्य रूप से एक वैयक्तिक कला है, वह Subjective है और उसके प्रगति के माप भी वैयक्तिक और देशीय है, देश-काल-निरपेक्ष (Universal) नहीं। शॉ और शेक्सपीयर में, या कालिदास तथा प्रसाद में कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय बहुत-कुछ वैयक्तिक रुचि और दृष्टिकोण पर निर्भर है।

६. विज्ञान में वैज्ञानिक का दृष्टिकोण वैयक्तिक (Subjective) न

होकर निर्व्यक्तिक (Objective) होता है। एक वैज्ञानिक द्वारा प्रस्तुत तथ्य का शोध अन्वेषण हो सकता है और उसका विकास विज्ञान का एक साधारण अन्वेषक भी कर सकता है। कला और काव्य के क्षेत्र में ऐसा सम्भव नहीं। विज्ञानिक नियम विश्व-व्यापक (Universal) होते हैं।

७. कला और साहित्य स्वयं में साध्य हो सकते हैं, क्योंकि उनका मुख्य क्षेत्र व्यक्ति और उसकी आत्मा है, परन्तु विज्ञान साध्य और साधन दोनों ही हो सकता है।

८. विज्ञान सदा प्रगतिशील है। किन्तु साहित्य और कला के विषय में ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि हमारे पास साहित्यिक प्रगति के मापने के वैसे नाप नहीं जैसे विज्ञान के पास है। साहित्य, सस्कृति और कला के क्षेत्र में प्रगति शब्द की परिभाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ बदलती रहती है। प्रगति शब्द का इस क्षेत्र में किया गया प्रयोग वैयक्तिक (Subjective) है, निर्व्यक्तिक (Objective) नहीं।

परन्तु इस प्रकार के भेदों के होते हुए भी दोनों में समानताएँ हो सकती हैं, दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। यदि कला में वृद्धि का बहिष्कार नहीं हो सकता तो विज्ञान में कल्पना का।

६. साहित्य के प्रेरणा-स्रोत

साहित्य या काव्य की रचना मनुष्य क्यों करता है? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। और इसके उत्तर में विचारकों ने जीवन की मूलभूत प्रेरणाओं का अन्वेषण करते हुए साहित्य तथा कला की प्रेरणाओं को निश्चित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह कार्य पर्याप्त कठिन है, इसका कोई सरल उत्तर सम्भव नहीं।

यूनान के सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा माना है। अरस्तू का कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता के भाषा-व्यवहार आदि का अनुसरण करने को प्रेरित करती है वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-रचना के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। अरस्तू का यह सिद्धान्त उसके आचार्य प्लेटो के अनुकृतिवाद के सिद्धान्त के आधार पर आधारित है। परन्तु आज अरस्तू का यह सिद्धान्त अधिक तात्त्विक नहीं समझा जाता। अरस्तू और उसके आचार्य प्लेटो मुख्य रूप से नीतिवादी हैं, अतः

इनका दृष्टिकोण अवास्तविक, संकुचित और संकीर्ण कहा जाता है। हीगेल और फ्रोबे दोनों ने आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को ही अधिक महत्त्व दिया है। आज के मनोवैज्ञानिकों ने भी साहित्य के ओन के अन्वेषण का प्रयत्न किया है। फ्रायड ने काम-वासना को जीवन की मूल प्रवृत्ति मानते हुए साहित्य और कला को अभुक्त काम का ही परिणाम माना है। सामाजिक नियंत्रण के फलस्वरूप हृदय की दबी हुई वासनाएँ अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं।

फ्रायड के अनुगामी एडलर और युंग ने भी अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। एडलर के अनुसार सम्पूर्ण साहित्य हमारे जीवन से सम्बन्धित अभावों की पूर्ति है। प्रत्यक्ष जीवन के अभाव, दुःख तथा कष्ट इत्यादि से छुटकारा पाने के लिए कलाकार कल्पना-लोक का आश्रय ग्रहण करता है। युंग ने मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का उद्देश्य अपने अस्तित्व की रक्षा ही माना है, साहित्य भी मनुष्य को आत्मरक्षा की प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

जहाँ तक मानव की मूलभूत प्रवृत्तियों की समस्या है, वह एक बहुत कठिन पहेली है। इस विषय में मतेव्य की सम्भावना कदाचित् सम्भव ही नहीं। किसी एक प्रवृत्ति को हम निर्णायिका नहीं मान सकते। मानव-जीवन अत्यन्त जटिल है, मनोविज्ञानिक और समाजशास्त्रीय खोज अभी किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच सकी। परन्तु इतना अवश्य ही मान्य है कि व्यक्ति की प्रवृत्ति एक नहीं, वे अनेक हैं, और सब मिश्रित हैं। समय, परिस्थिति और समाज सभी उनका स्वरूप निर्धारण करते हैं।

साहित्य की मूलभूत प्रेरणाओं को हम निम्न प्रकार से रख सकते हैं—

(१) आत्माभिव्यक्ति की इच्छा—(आत्मिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण इसमें काम-प्रवृत्ति का प्रमुख हाथ रहता है), (२) मानव-व्यापारों में अनुराग, (३) सौन्दर्यप्रियता, (४) कौतूहलप्रियता और (५) स्वाभाविक आकर्षण।

१८. साहित्य का उद्देश्य

प्राचीन आचार्यों ने काव्य का प्रयोजन यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान तथा आनन्द इत्यादि अनेक फलों की प्राप्ति को माना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि साहित्य में चिरस्थायी होने की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है। धन-प्राप्ति

के लिए भी रीतिकालीन कवियों ने काव्य-सर्जना की ही है। वस्तुतः धन, यश, भौतिक सुख-सुविधा इत्यादि भी साहित्य के फल हो सकते हैं, परन्तु सत्साहित्य आत्माभिव्यक्ति द्वारा आनन्द-प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर ही चलता है।

यदि कला का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति द्वारा आनन्द-प्राप्ति ही है, तो उसका सामाजिक नैतिकता से क्या सम्बन्ध होगा, इस प्रश्न पर यूरोप में बड़ा विवाद उठा। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के अनुगामियों ने साहित्य का सामाजिक नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं माना। अंग्रेजों के सुप्रसिद्ध आलोचक स्पिनगार्न ने लिखा है : 'कुछ लोग कविता का उद्देश्य शिक्षा मानते हैं, कुछ आनन्दोत्पादन, और कुछ आलोचक आनन्द तथा शिक्षा दोनों को ही स्वीकार करते हैं। परन्तु कला का एक ही उद्देश्य है अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के उद्देश्य की खोज करना व्यर्थ है।' यूरोप में इस सिद्धान्त का समर्थन टी. एस. इलियट, आस्कर वाइल्ड तथा ए. सी. ब्रेडले इत्यादि अनेक कलाकारों तथा आलोचकों ने किया। भारत में भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इलाचन्द्र जोशी 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के अनुगामी हैं।

यह ठीक है कि सामाजिक नैतिकता परिवर्तित होती रहती है, और इसका परिवर्तित होते रहना इस बात का द्योतक है कि वह अपने-आपमें सत्य नहीं, वह अपने-आपमें पूर्ण नहीं, अतः वह हमारी आत्मिक अभिव्यक्ति का बन्धन नहीं बन सकती। परन्तु इसके साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण सत्य (जिसे हम भल नहीं सकते) है मानव की सामाजिकता। हम सामाजिक प्राणी हैं। समाज में रहने के लिए नियंत्रण और नियमन की आवश्यकता है। साहित्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की रचना है, अतः वह हमारे जीवन से निरपेक्ष किस प्रकार हो सकता है? क्या व्यक्ति साहित्यकार का विकास समाज से स्वतंत्र सम्भव है? यदि नहीं, तो साहित्य को भी जीवन के निमित्त होना है, जीवन-निरपेक्ष नहीं।

आत्म भिव्यक्ति से प्राप्य आनन्द एक आत्मिक क्रिया है वह ऐन्द्रिक नहीं। अतः इस आनन्द की प्राप्ति सामाजिकता से विद्रोह करके मनोवृत्तियों को उछुल्ल करने में नहीं। साहित्य हमारी चित्त-वृत्तियों का परिष्कार और परिमार्जन करता है और उन्हें उच्च भाव-भूमि पर लाकर आत्मानन्द की प्राप्ति कराता है। यह

ठीक है कि साहित्य को हम समाज की तुच्छ और थोथी नैतिकता की तुला पर नहीं तोल सकते, परन्तु यदि साहित्य जीवन-निरपेक्ष है तो उसमें रहेगा क्या—केवल शब्दाडम्बर, अलंकार और थोथी कल्पना ! जीवन-निरपेक्ष कला के सृजन की प्रेरणा भ्रामक और अनिष्टकारी है ।

परन्तु जीवन और साहित्य के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साहित्य किसी भी वाद (चाहे वह धार्मिक हो या दार्शनिक; राजनीतिक हो या आर्थिक) के प्रचार या प्रयोग का साधन नहीं बन सकता । प्रचार या प्रोपेगण्डा का साधन नहीं बन सकता । प्रचार या प्रोपेगण्डा के उद्देश्य से रचा गया साहित्य साहित्य न होकर उसकी विकृति-मात्र है । साहित्य का विभिन्न वादों से सम्बन्ध हो सकता है, किन्तु ये वाद साहित्य के स्वरूप के नियामक नहीं हो सकते; वे उसके उपादान या हेतु हो सकते हैं । साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य है, परन्तु वह जीवन-निरपेक्ष नहीं, जीवन-सापेक्ष है ।

११. साहित्य तथा रस

साहित्य के भाव पक्ष का निर्माण भावों द्वारा होता है । हमारे यहाँ प्राचीन आचार्यों ने भावों को रसों के अन्तर्गत गृहीत किया है । इस सिद्धान्त का शास्त्रीय रूप से विवेचन सर्वप्रथम 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने किया है ।

'आस्वाद्यत्वाद्रसः' आस्वादजन्य आनन्द को ही रस कहा जाता है । साहित्य के जिस अंग में आस्वाद नहीं होता वह साहित्य ही नहीं कहलाता । प्राचीन कवियों ने रस की परिभाषा इस प्रकार से की है :

जो विभाव, अनुभाव अरु, विभिचारिणि करि होय ।

थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोय ॥

वस्तुतः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त रति इत्यादि स्थायी भाव 'रस' कहलाते हैं ।

भाव को अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, और उसको रस का आधार स्वीकार किया जाता है । स्थायी भाव इनमें प्रमुख हैं । वही रस की अवस्था तक पहुँच पाते हैं ।

विभाव-अनुभाव स्थायी भाव को जागृत और उद्दीप्त करने और रसरूप तक पहुँचाने में सहायक होते हैं ।

विभाव रति आदि स्थायी भावों को जगा देते हैं । विभाव का शाब्दिक अर्थ है भावों को विशेष रूप से जगा देना । विभाव दो प्रकार के होते हैं— (१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव ।

जिसके प्रति या जिसके प्रिय में स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं । शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के प्रेम-वर्णन में शकुन्तला आलम्बन होगी, क्योंकि दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ । दुष्यन्त आश्रय कहलायगा ।

शकुन्तला रूपी आलम्बन विभाव द्वारा उत्पन्न स्थायी भाव को जो बढ़ा देते हैं, उद्दीप्त कर देते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं । उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत शकुन्तला के सौन्दर्य, गान्धर्व के एकान्त, कुसुमित मादक वातावरण इत्यादि को गृहीत किया जाना है ।

अनुभाव के अन्तर्गत बाह्य चेष्टाएँ आती हैं, जो कि स्थायी भावों के उदित होने पर आश्रय में उत्पन्न होते हैं । जैसे क्रोध स्थायी भाव के उत्पन्न होने पर आँखों का लाल होना, शरीर कांपना इत्यादि ।

संचारी भाव— स्थायी भावों के बीच-बीच में कुछ और भाव भी प्रकट होते रहते हैं, जो कुछ क्षणों के अनन्तर विलीन हो जाते हैं । जैसे प्रेम की अवस्था में औत्सुक्य, हर्ष अथवा लज्जा आदि भाव कुछ क्षणों के लिए उत्पन्न होकर स्थायी भाव रति को बढ़ाकर स्वयं विलीन हो जाते हैं । इनका एक-मात्र उद्देश्य स्थायी भावों को पुष्ट करना है । उन्हें संचारी भाव कहते हैं ।

रसों की संख्या आजकल ६ मानी जाती है । प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव होता है । ६ रस और उनके स्थायी भाव इस प्रकार हैं—

रस	स्थायी भाव
शृङ्गार (सयोग-वियोग)	रति
हास्य	हास
करुण	शोक
रोद्र	क्रोध
वीर (दया, दान, युद्ध)	उत्साह
भयानक	भय
बीभत्स	घृणा

अद्भुत

शान्त

'वस्मय

निर्वेद

भरत मुनि ने रसो की सख्या केवल नौ मानी है । परन्तु बाद के आचार्यों ने नौ रस ही स्वीकार किये हैं । कुछ वात्सल्य को भी रसो के अन्तर्गत रखते हैं ।

रस-निष्पत्ति के विषय में अनेक वाद-विवाद प्रचलित हैं और आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अपने मतों को स्थापित किया है । किन्तु हम इस वाद-विवाद में न पड़ते हुए रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक भरत मुनि के एतद्विषयक मत को उद्धृत करके रस-प्रकरण को समाप्त करेंगे । भरत मुनि का कथन है कि :

“विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।”

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

१२. साहित्य में शैली की महत्ता

शैली का सम्बन्ध साहित्य के कला पक्ष से है । किसी भी साहित्यिक रचना की उत्कृष्टता के लिए भाव पक्ष और कला पक्ष के समान उत्कर्ष की आवश्यकता है । मनुष्य केवल-मात्र आत्माभिव्यक्ति से ही संतुष्ट नहीं होता, प्रत्युत वह उसे सुन्दर भी बनाना चाहता है । शैली के मूल में सौन्दर्यप्रियता की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति ही काम कर रही है ।

शैली क्या है ? भावों की अभिव्यक्ति का प्रकार, दूसरे शब्दों में किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम शैली है । शैली की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं, पोप का कथन है कि शैली विचारों की वेश-भूषा है । साहित्य की आत्मा भाव या रस, जिसे वस्तु (Matter) भी कहा जा सकता है, अपने-अपने अभिव्यक्ति के प्रकार (Manner) से पृथक् नहीं हो सकती । वस्तुतः भाव यदि आत्मा है तो शैली उसका शरीर । शरीर से आत्मा को पृथक् नहीं किया जा सकता । साहित्य में शैली की महत्ता इससे स्पष्ट हो जाती है ।

प्रत्येक महान् लेखक की अपनी शैली होती है, और उसका साहित्य उसकी

अपनी शैली से ही पहचाना जा सकता है । साधारण लेखक अपनी स्वतन्त्र शैली का निर्माण नहीं कर सकते ।

शैली का सम्बन्ध मुख्य रूप से भाषा से है, और भाषा का आधार शब्द है । इसीलिए भारतीय आचार्यों ने शब्द-शक्तियों के विवेचन द्वारा शब्दों के समुचित प्रयोग पर विशेष बल दिया है । शब्द-शक्तियाँ तीन हैं—(१) श्रुतिभाषा, (२) लक्षणा, और (३) व्यञ्जना । इनमें लक्षणा और व्यञ्जना भाषा की ऐसी शक्तियाँ हैं जिनसे भाषा न केवल अधिक चमत्कारपूर्ण बनती है, अपितु वह अधिक शक्ति-सम्पन्न, भाव-व्यञ्जक और प्रभावपूर्ण भी हो जाती है । परन्तु इन शब्द-शक्तियों का प्रयोग कभी भी केवल-मात्र चमत्कार या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं किया जाना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त भारतीय आचार्यों ने शैली का विवेचन करते हुए गुणो, वृत्तियों, रीतियों तथा अलंकारों का भी बड़ा विशद विवेचन किया है । जहाँ गुणों की विवेचना की गई है, वहाँ दोषों का परिगणन भी कराया गया है ।

शैली के भेद—पाश्चात्य आचार्यों ने प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक नाम से शैली के दो भेद किये हैं ।

प्रज्ञात्मक शैली में मस्तिष्क की प्रधानता रहती है, और उसके अन्तर्गत प्रसाद और स्पष्टता की विशेष उपादेयता स्वीकार की जाती है । रागात्मक शैली में हृदय की प्रधानता होती है और उसमें ओज, करुणा तथा हास्य आदि की उद्भावनता पर विशेष बल दिया जाता है ।

वैयक्तिक प्रयोगों के आधार पर तथा लालित्य और अलंकारों के आधार पर शैली के अनेक भेद सम्भव हैं, और वस्तुतः उनका पाश्चात्य साहित्याचार्यों ने पर्याप्त विवेचन भी किया है । परन्तु स्थानाभाव के कारण हम यहाँ उनका विवेचन नहीं कर सकते ।

हम आज शैली के मुख्य रूप से दो भेद साहित्यिक (रसात्मक)—और वैज्ञानिक (तार्किक) ही मानते हैं । हिन्दी में इन दोनों का प्रचलन है ।

१३ साहित्य का अध्ययन

साहित्य के अध्ययन के लिए हमें कुछ सुनिश्चित और स्पष्ट आधारों को लेकर चलना पड़ता है । यह आधार क्या हो सकते हैं, यहाँ उन्हीं का विवेचन किया जाता है ।

१. -साहित्यकार का व्यक्तित्व—साहित्य के निर्माण में साहित्यकार के व्यक्तित्व का कितना योग होता है, इसका पीछे विवेचन किया जा चुका है। अतः साहित्यिक रचना के अध्ययन में हमारा सर्वप्रथम ध्यान साहित्यकार के व्यक्तित्व पर पड़ेगा। उसके व्यक्तित्व का अध्ययन उसकी कला-कृतियों के समझने में बहुत सहायक होता है।

२. देश, काल तथा परिस्थितियाँ—साहित्यकार के व्यक्तित्व का विकास (Development) उसके संस्कार—संक्षेप में उसके व्यक्तित्व का निर्माण देश-काल तथा सामाजिक परिस्थितियाँ करती हैं। इसी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति काव्य में होती है। दूसरी सामाजिक समस्याएँ और धारणाएँ काव्य के भवन-निर्माण के लिए कच्ची सामग्री (Raw material) प्रस्तुत करती हैं, और कलाकार उनका अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रयोग करता है। अतः प्रत्येक रचना का अध्ययन करते हुए हम इन परिवर्तनशील परिस्थितियों को नहीं भुला सकते।

३. शैलियाँ, वाद और जीवन-दृष्टि—काव्य की विषय-वस्तु तथा उस विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार—शैली का अध्ययन करना साहित्यिक आलोचक का प्रमुख कर्तव्य है। काव्य-वस्तु का अध्ययन करते हुए हम कलाकार की कृति में नियोजित सामग्री, उसके क्रम और उद्देश्य का भी अध्ययन करते हैं। प्रत्येक कलाकार अपनी रचनाओं में अपने जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है, वही उसका—काव्यकार का—जीवन-दर्शन कहलाता है। साहित्यकार की रचना के क्रमबद्ध अध्ययन द्वारा ही हम उसके जीवन-दर्शन तक पहुँच सकते हैं।

अतः आज हम साहित्य का अध्ययन करते हुए न केवल साहित्यकार द्वारा प्रतिपादित विषय-वस्तु या रचना-शैली का ही अध्ययन करते हैं, अपितु साहित्यकार के व्यक्तित्व और उस व्यक्तित्व के निर्माता सामाजिक परिस्थितियों, आदर्शों और उद्देश्यों का भी अध्ययन करते हैं। दूसरे शब्दों में आज के साहित्य के अध्ययन के लिए हमें केवल काव्य-शास्त्र से ही परिचित न होकर मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र से भी अभिज्ञ होना चाहिए।

तीन : कविता

१. पद्य तथा गद्य

प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दो मुख्य भेद किये हैं—(१) श्रव्य काव्य तथा (२) दृश्य काव्य । जिसे कानों से सुनकर आनन्द की प्राप्ति हो, वह श्रव्य काव्य और जिस काव्य को अभिनीत रूप में देखकर आनन्द की प्राप्ति हो वह दृश्य काव्य कहलाता है । प्राचीन काल में मुद्रण-कला के अभाव में काव्य-रस के पिपासु-जन सुन-सुनाकर काव्य-रस का आस्वादन करते थे । इसी कारण तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव-स्वरूप ही काव्य की इस विधा का नाम श्रव्य काव्य रखा गया । आज दृश्य काव्य भी श्रव्य काव्य के समान पढ़े तथा सुने जा सकते हैं । परन्तु निश्चय ही इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से रंगमंच से है ।

श्रव्य काव्य के आकार के आधार पर तीन मुख्य भेद किये गए हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, तथा (३) चम्पू । कविता मुख्य रूप से पद्य से ही सम्बन्धित है, अतः कविता की विवेचना के अन्तर्गत केवल पद्यबद्ध साहित्य को ही गृहीत किया जायगा ।

१. गद्य शब्द की उत्पत्ति 'गद्' धातु में हुई है और उसका सम्बन्ध साधारण जन की बोल-चाल से रहता है । पद्य का सम्बन्ध 'पद्' धातु से है, इस कारण उसमें नृत्य की-सी गति रहती है । गद्य में यति इत्यादि का नियम नहीं माना जाता ।

२. गद्य में प्रायः बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रहती है, जब कि पद्य में भाव-तत्त्व की ।

३. भावों की प्रधानता के फलस्वरूप पद्य में गद्य की अपेक्षा संगीतात्मकता की प्रधानता रहती है । ताल, लय और छन्द पद्य में अधिकांशतः पाये जाते हैं । आधुनिक काल की स्वच्छन्द कविताएँ भी ताल और लय से हीन नहीं, और इसी कारण वह गद्य नहीं ।

इन भेदों के होते हुए भी अनेक स्थलों पर गद्य भी ताल, लय तथा अलंकार इत्यादि सामग्री से युक्त होकर अत्यन्त चित्ताकर्षक और रसपूर्ण दृश्यों में

उत्कृष्ट पद्य के सदृश बन जाता है, और अनेक स्थलों पर छन्द और ताल से युक्त ऐसे पद्य भी मिल जाते हैं जो कि भाव तथा रसहीनता के कारण गद्यवत् प्रतीत होते हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' गद्य में होती हुई भी लय, ताल तथा अलंकार इत्यादि चमत्कारपूर्ण सामग्री से युक्त होकर उत्कृष्ट पद्य को भी पद्य-गुणों की दृष्टि से पीछे छोड़ जाती है। द्विवेदी-युग के अधिकांश कवियों की कविताएँ रसहीन छन्दोबद्ध गद्य के सदृश ही हैं। इस अपवाद की उपस्थिति में भी पद्य संगीतात्मकता, ताल तथा लय से युक्त होकर गद्य से स्पष्ट रूप में पृथक् जा पड़ता है। भावों की प्रधानता के फलस्वरूप पद्य में एक स्वाभाविक प्रवाह, गति और शक्ति आ जाती है, जो कि गद्य में अप्राप्य होती है।

२. कविता का लक्षण

साहित्य की भाँति कविता के लक्षणों की भी कमी नहीं, अनेक आचार्यों तथा विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार कविता की परिभाषा लिखी है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि तथा आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है : "कविता मूल में जीवन की आलोचना है।"^१

वर्ड्सवर्थ का कहना है कि कविता शान्ति के समय स्मरण की हुई उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक है।^२

अंग्रेज कवि ले हण्ट (Leigh Hunt) ने लिखा है : "कविता सत्य, सौंदर्य तथा शक्ति के लिए होने वाली वृत्ति का मुखरण है। यह अपने-आपको प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के आधार पर खड़ा करती और निश्चित करता है। यह भाषा को विविधता तथा एकता के सिद्धान्त पर स्वर-लय-सम्पन्न करती है।"^३

प्रसिद्ध अंग्रेज कवि कॉलरिज (Coleridge) लिखता है : "कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है।"^४

१. Poetry is at bottom a criticism of life.

२. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquillity.

३. The utterance of passion for truth, beauty, and power, embodying and illustrating its conceptions by imagination and fancy, and modulating its language on the principles of variety in unity.

४. Poetry is the best words in the best order.

मिल्टन (Milton) ने कविता को सरल, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक कहा है ।^१

आचार्य जॉनसन (Johnson) के विचार में कविता छन्दोपय रचना है ।^२ अन्यत्र साहित्य के विभिन्न तत्त्वों का सम्मिश्रण करते हुए जॉनसन लिखता है कि कविता सत्य तथा प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है, जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है । इसी प्रकार प्रसिद्ध कवि शैले ने लिखा है : “कविता रफीन तथा सर्वोत्तम आत्माओं के परिपूर्ण क्षणों का लखा है ।”

इसी प्रकार हैजलिट (Hazlitt), कार्लाइल (Carlyle) मेकाले (Macaulay) तथा रस्किन (Ruskin) इत्यादि अनेक विद्वानों तथा आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार काव्य की परिभाषाएँ की हैं ।

भारतीय दृष्टिकोण—बहुत प्राचीन काल से ही इस देश में भी कविता के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न किया गया है, और अनेक आचार्यों तथा श्रेष्ठ विद्वानों ने कविता का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करके उसके अनेक लक्षण अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तुत किये हैं । कविता के लिए काव्य शब्द को समान रूप से प्रयुक्त करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने रसयुक्त वाक्य को काव्य स्वीकार किया है, तो पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयाथ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है ।

आधुनिक समय में हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल कविता का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखते हैं : “जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है उसे कविता कहते हैं ।” मुश्री महादेवी वर्मा लिखती है : “कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है, और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वंसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं ।”

इस प्रकार के अनेक लक्षणों से यहाँ अनेक पृष्ठ भरे जा सकते हैं, परन्तु क्या हम इनसे कविता के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, यह विचारणीय है ।

१. Poetry should be simple, sensuous and passionate.

२. Poetry is metrical composition.

कविता के स्वरूप-ज्ञान के लिए हमें यह निर्णय करना चाहिए कि कविता क्या वस्तु है और कविता का निर्माण किन विभिन्न तत्त्वों से हुआ है ?

✓ ३. कविता क्या है ?

यहाँ कविता के लक्षण-निर्धारण से पूर्व उसके स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए । कविता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त लक्षणों में अपने-अपने ढंग से दिया गया है । परन्तु उपर्युक्त सब लक्षण एकांगी हैं, क्योंकि वे अधिकतर प्रशसात्मक हैं, अतः कविता का यथातथ्य स्वरूप-ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ हैं ।

साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में हमें इन विभिन्न लक्षणों, उनके गुण-दोषों तथा आदर्शों के भ्रंश में न पड़ते हुए कविता के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करना चाहिए । 'साहित्य' के प्रकरण में हम यह लिख चुके हैं कि पाश्चात्य विद्वान् विचेस्टर ने काव्य के मूल में इन चार प्रमुख तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार किया है—(१) भाव-तत्त्व (Emotional Element), (२) बुद्धि-तत्त्व (Intellectual Element), (३) कल्पना-तत्त्व (Imagination Element) तथा (४) रचना-तत्त्व (Style Element)। कविता में भी इन्हीं तत्त्वों की आवश्यकता है और इनके आधार पर ही इसका रूप निर्धारित किया जाता है । जीवन की विभिन्न अनुभूतियों, भावनाओं तथा आदर्शों की अभिव्यक्ति का लिपिबद्ध रूप ही साहित्य कहा गया है । अथवा जैसा कि मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखा है कि साहित्य जीवन की व्याख्या है, कविता साहित्य का एक अभिन्न अंग है । जीवन की व्याख्या में साहित्य की यह विधा किस विशिष्ट प्रकार को अपनाती है ? साहित्य की अन्य विधाओं और कविता में क्या अन्तर है ? यह प्रश्न विचारणीय है, और इन्हीं के उत्तर कविता का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक हो सकते हैं ।

कविता में भावात्मकता तथा कल्पना की प्रधानता रहती है । जीवन की अनुभूतियों, आदर्शों तथा तथ्यों के वर्णन में कवि की दृष्टि भावपूर्ण तथा कल्पनापूर्ण होती है । इस प्रकार जीवन की प्रत्येक वस्तु, भाव तथा अनुभूति को भावनात्मक तथा चित्ताकर्षक बनाकर कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा वास्तविक अथवा वायवी, नगण्य तथा अस्तित्व-शून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करता है । वास्तव में कवि अनुभूति, भाव तथा कल्पना द्वारा ही जीवन की व्याख्या करता है ।

इस प्रकार कल्पना तथा भाव कविता के प्रमुख तत्त्व कहे जा सकते हैं । परन्तु कोई भी रचना केवल कल्पनात्मक तथा भावात्मक होने के कारण कविता नहीं कहला सकती । क्योंकि गद्य के अनेक ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो कि कल्पना, भाव तथा चमत्कार की दृष्टि से किसी भी उत्कृष्ट कल्पना तथा भाव-तत्त्व से परिपूर्ण पद्य से कम नहीं हो सकते । संस्कृत का अमर ग्रन्थ बाणभट्ट की 'कादम्बरी' भाव कल्पना तथा चमत्कार से पूर्ण होने के कारण उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर कविता के अन्तर्गत गृहीत किया जा सकता है । अतः कल्पना तथा भाव कविता के प्रमुख तत्त्व अवश्य कहे जा सकते हैं, और इनके अभाव में कोई भी कविता कविता नहीं कहला सकती । किन्तु केवल इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर किसी भी साहित्यिक रचना को कविता नहीं कहा जा सकता । वास्तव में जिस किसी रचना में उक्त सभी विशेषताएँ होती हैं, वह साहित्य का मूल्य तो बढ़ाती ही है, साथ ही उससे उसकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान भी हमें हो जाता है ।

कवित्वपूर्ण गद्य से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए कविता में कल्पना तथा भाव के साथ-साथ रागात्मकता होनी चाहिए । अतः भाव तथा कल्पना का छन्दोबद्ध वर्णन ही दूसरे शब्दों में कविता कहला सकता है । छन्द तथा लय-शून्य भाव तथा कल्पनापूर्ण साहित्यिक रचना गद्य के अन्तर्गत गृहीत की जायगी । भाव तथा कल्पना-शून्य छन्दोबद्ध रचना पद्यात्मक गद्य कहलायगी । इस प्रकार भाव तथा कल्पनापूर्ण 'कादम्बरी' का गद्य और ज्योतिष, गणित तथा आयुर्वेद आदि की छन्दोबद्ध संस्कृत रचनाएँ कविता नहीं कही जा सकती । भाव तथा कल्पना वास्तव में यदि कविता की आत्मा हैं तो छन्द शरीर । आत्मा-शून्य शरीर मृत होता है, और शरीर के बिना आत्मा का सासारिक रूप में अस्तित्व कठिन है ।

✓४. कविता के दो पक्ष

कविता का मुख्य आधार भाव है, और भावों की अभिव्यक्ति का साधन है भाषा । इन्हीं दो तत्त्वों के आधार पर काव्य तथा कविता के दो पक्षों (भाव-पक्ष तथा कला पक्ष) का प्रादुर्भाव हुआ है । कलाकार भाव, कल्पना तथा बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ अथवा श्रोता के सम्मुख रखता है वही कविता के भाव पक्ष का निर्माण करते हैं । यह भाव ही कविता की आत्मा कहलाते हैं । इस आत्मा के प्रकटीकरण का जो साधन है, वह भाषा है, और उसे ही कला पक्ष ।

के अन्तर्गत गृहीत किया जाता है। भाषा काव्य का शरीर है।

✓ **भाव पक्ष**—भाव पक्ष के अन्तर्गत साहित्य तथा कविता का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय गृहीत किया जा सकता है। कविता का सम्बन्ध मानव के अन्तर्गत के सम्पूर्ण भाव-जगत् से है, वह भाव-जगत् बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ विभिन्न रूप धारण करता रहता है, उसमें इतनी अनेकरूपता विद्यमान रहती है कि उसकी न तो कोई सीमा ही निर्धारित की जा सकती है, और न गणना ही हो सकती है। यही कारण है कि साहित्य के भाव पक्ष का प्रकाशन अत्यन्त कठिन है। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने भी साहित्य के भाव पक्ष की पृथक् विवेचना नहीं की। परन्तु भावों के परिमार्जन और परिष्कार के लिए उन्होंने साहित्यकार को विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन का आदेश अवश्य दिया है।

पाश्चात्य आचार्यों ने भाव पक्ष की पुष्टि के लिए निम्न लिखित तत्त्वों की आवश्यकता स्वीकार की है—(१) कल्पना-तत्त्व (Element of Imagination), (२) बुद्धि-तत्त्व (Element of Intellectual) (३) भाव-तत्त्व (Element of Emotion)।^१ कविता में भावों के सम्यक् परिपाक के लिए इन तीनों तत्त्वों की समान आवश्यकता है, किसी भी एक तत्त्व के अभाव में भाव पक्ष निर्बल हो सकता है। भारतीय आचार्यों ने भावों को रसों के अन्तर्गत गृहीत करते हुए उनकी विशद विवेचना की है। शृङ्गार, वीर आदि रसों तथा रति, शोक, मोह आदि स्थायी तथा संचारी भावों का विवेचन रसों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

कला पक्ष—भाव पक्ष को यदि काव्य की आत्मा स्वीकार किया जाता है तो कला पक्ष को उसका शरीर। मानव-मन के विविध भावों की विविध ढंग से की गई अभिव्यक्ति द्वारा ही कलाओं की सृष्टि होती है। भाषा में की गई मानव-भावनाओं की अभिव्यक्ति ही काव्य कहलाती है। भाषा साहित्य में भावाभिव्यक्ति का एक-मात्र माध्यम है। भावाभिव्यक्ति का यह माध्यम रूपी शरीर अपुष्ट, कुरूप तथा बेढगा होगा तो भाव रूपी आत्मा का प्रकाशन कभी

^१ इन तत्त्वों का विस्तृत विवेचन 'साहित्य' प्रकरण में पृष्ठ ५-६ पर देखें।

भी ठीक-ठीक रूप में नहीं हो सकेगा । कविता मुख्य रूप से शब्द की साधना है । भाव तो प्रत्येक कविता के मूल में वर्तमान रहते हैं, परन्तु उन्हें भाषा का स्वरूप देकर रीति, अलंकार, माधुर्य तथा ओज आदि गुणों से युक्त करके चमत्कारपूर्ण तथा रसमय बना देना कला पक्ष का ही काम है ।

कवि या साहित्यकार अपनी भाषा में कभी भी अनावश्यक शब्दों को नहीं आने देगा । थोड़े-से शब्दों में जीवन के मार्मिक तत्त्वों को अभिव्यक्त कर देने की क्षमता कवि की भाषा में आवश्यक है । दूसरे शब्दों में साहित्यिक संक्षेप कविता के कला पक्ष की एक प्रमुख विशेषता है । वास्तविकता तो यह है कि सच्चे कवि के सम्मुख ऐसे शब्द अपने-आप ही आ उपस्थित होते हैं जो कि देखने में छोटे लगें, घाव करें गहरी ।

कविता के इन दो विभिन्न पक्षों के अध्ययन के अनन्तर हमें यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि कविता के कला पक्ष तथा भाव पक्ष में अखण्ड ऐक्य विद्यमान रहता है । निश्चय ही शरीर से आत्मा की श्रेष्ठता सभी को मान्य है, परन्तु शरीर का भी अपना स्वतन्त्र महत्त्व है ।

हमारे आचार्यों ने काव्य के कला पक्ष के अन्तर्गत गुणों की सत्ता को भी स्वीकार किया है, यह गुण काव्य में रस के उत्कर्ष के हेतु माने गए हैं । आचार्यों ने गुणों की संख्या-निर्धारण के विषय में मतभेद है । भरत तथा वामन^१ आदि आचार्यों ने तो शब्द तथा अर्थ के दस-दस गुण स्वीकार किये हैं, परन्तु भोज ने उनकी संख्या २४ स्वीकार की है । मम्मटाचार्य ने इन सम्पूर्ण गुणों को तीन प्रमुख गुणों के अन्तर्गत ही समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है, यह तीन गुण हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज, तथा (३) प्रसाद ।

इन तीनों का सम्बन्ध चित्त की तीन प्रमुख वृत्तियों से माना गया है । (१) माधुर्य का सम्बन्ध चित्त की द्रवणशीलता या पिघलने से है, (२) ओज का चित्त को उत्तेजित करने से, और (३) प्रसाद का चित्त को प्रसन्न कर देने से । माधुर्य तथा ओज का सम्बन्ध काव्य के विभिन्न तीन-तीन रसों से है, परन्तु प्रसाद का सम्बन्ध सभी रसों से माना जाता है ।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थ व्यक्तिरुदारत्वभोजः कान्तिसमाधयः ॥

उपवर्णित तीनों गुणों की उत्पत्ति के लिए शब्दों की बनावट तीन प्रकार की मानी गई है, इसे वृत्ति कहते हैं। यह वृत्तियाँ गुणों के अनुरूप १. मधुरा, २. परुषा तथा ३. प्रौढा कहलाती हैं। इन्हीं तीन गुणों और वृत्तियों के आधार पर काव्य-रचना की तीन रीतियाँ मानी गई हैं—१. वैदर्भी, २. गोडी तथा ३. पांचाली।

१. वैदर्भी—माधुर्य-व्यंजक वर्णों से युक्त तथा समास-रहित ललित रचना वैदर्भी वृत्ति कहलाती है।

२. गोडी—श्रोज अथवा तेज को प्रकाशित करने वाले वर्णों से युक्त बहुत-से समास तथा आडम्बरों से बोझिल उत्कट रचना गोडी रीति के अन्तर्गत गृहीत की जाती है।

३. पांचाली—दोनों से बचे हुए वर्णों से युक्त पाँच या छः पदों के समास वाली रचना पांचाली कहलाती है।

विभिन्न रसों में विभिन्न गुणों और वृत्तियों का उपभोग सगत होगा, निम्न लिखित तालिका इनके पारस्परिक सम्बन्ध को विशेष रूप से स्पष्ट कर देगी—

गुण	वृत्ति	रीति	उपयुक्त रस
माधुर्य	मधुरा	वैदर्भी	शृङ्गार करुण, शान्त
श्रोज	परुषा	गोडी	वीर, रौद्र व बीभत्स
प्रसाद	प्रौढा	पांचाली	सभी रस समान

कविता की भाषा की इन विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी भाषा में व्यवस्था, संवादिता—प्रसंगानुकूल उचित भाषा का प्रयोग—प्राकृतिकता, प्राकृतिक स्वाभाविकता, यथार्थता इत्यादि गुणों का भी अवश्य समावेश होना चाहिए।

५. कविता में सत्य

काव्य तथा कविता का आधार कल्पना है, अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि कल्पना पर आधारित साहित्य में सत्य का क्या स्थान हो सकता है? अथवा साहित्य से कल्पना तथा सत्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है? कुछ लोग निश्चय ही कल्पना-प्रसूत साहित्य में सत्य की सत्ता में सन्देह प्रकट करते हैं। किन्तु यथार्थ में यह सन्देह न केवल व्यर्थ है, अपितु निराधार भी है। कल्पना

हमारे लौकिक या विज्ञानिक सत्य के मापदण्ड से दूर होती हुई भी जीवन के चिरन्तन सत्य के निकट है। जो कुछ प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। इस प्रकार का सत्य विज्ञान और जीवन के लौकिक क्षेत्र में मान्य है, काव्य या साहित्य में नहीं। कवि-कल्पना में विज्ञानिक सत्य की खोज व्यर्थ होगी। कवि जीवन, जगत्, प्रकृति तथा मन इत्यादि में प्रविष्ट होकर उनके आन्तरिक और चिरन्तन सत्य का अन्वेषण करता है। रवि की भाँति कवि की अन्तर्दृष्टि प्रत्यक्ष जीवन से हटकर और परोक्ष जीवन में प्रविष्ट होकर आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करती है। साहित्यिक संसार को जैसा देखता है वैसा स्वीकार नहीं करता। अपनी रचि के अनुसार वह विश्व को परिवर्तित कर लेता है। यदि वह विश्व को जिस रूप में देखता है उसी रूप में उसका वर्णन करे, तो काव्य अनुकृति-मात्र होकर ही रह जायगा। परन्तु अपनी कल्पना के बल पर वह यथार्थ जगत् के अन्तर्तम में प्रविष्ट होकर स्वाभाविक सत्य की खोज करता है। कल्पना निराधार नहीं होती। कल्पना द्वारा रचित आदर्शों पर ही संसार चलता है, और उन्हीं आदर्शों पर भविष्य का निर्माण होता है। कविता में कवि कल्पना द्वारा प्रकृति के अन्तःस्थल में प्रविष्ट होकर शाश्वत सत्य की खोज करता है। इसका यह सत्य सीमाओं में बँधा हुआ नहीं होता, और न ही वह घटनाओं पर आश्रित होता है। उसका सत्य मानव-भावनाओं पर आश्रित होता है। अतः प्रकृति के सम्पर्क में आने पर मानव-मन में जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी उसके मन पर जो प्रतिक्रिया होती है, जीवन-संघर्ष में हमारे मन में उत्पन्न आशा-निराशा, सुख-दुःख हर्ष-विषाद इत्यादि मनोभावनाओं के निष्कपट और सूक्ष्म तथा स्वाभाविक वर्णन में ही कवि-सत्य की परीक्षा होती है। मानव-मन से सम्बन्धित सत्य प्रकृत सत्य की भाँति क्षणिक और अस्थायी नहीं होता वह चिरन्तन और शाश्वत होता है।

कविता में वास्तव में जीवन का चिरन्तन सत्य सदा वर्तमान रहता है, महाकवि टेनिसन का यह कथन कि कविता यथार्थ में अधिक सत्य है^१ अधिक युक्तियुक्त है।

६. कविता में अलंकारों का स्थान

काव्य-शास्त्र में अलंकारों की बहुत महिमा गाई गई है। काव्य-मीमांसाकार राजशेखर ने तो अलंकार को वेद का सातवाँ अंग कहा है। अलंकार शब्द का साधारण अर्थ आभूषण है, जिस प्रकार एक आभूषण रमणी के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है, ठीक उसी प्रकार अलंकार भी भाषा तथा अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि के प्रमुख साधन है। आचार्य केशवदास ने कहा है :

“जदपि मुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।

भूषण बिनु नहि राजई कविता, वनिता, मित्त ॥”

केशवदास से बहुत समय पूर्व भामह ने भी यही कहा था :

“न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनिता मुखम् ।”

अर्थात् वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण के बिना शोभा नहीं देता ।

‘काव्यादर्श’ के रचयिता दण्डी ने कहा है :

“काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।”

अर्थात् काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलंकार शब्द-वाच्य ही हैं ।

सौन्दर्य-प्रसाधन की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है, और आदि-काल से ही वह विभिन्न प्रकार से अपनी इस प्रवृत्ति को तृप्त करता आ रहा है। काव्य के क्षेत्र में भी मनुष्य अपनी सौन्दर्य-साधना की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अपने कथन के ढग को या अपने अभिव्यक्त भाव को अधिक आकर्षक, सौन्दर्ययुक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अलंकारों का आश्रय ग्रहण करता है। अलंकरण की प्रवृत्ति के पीछे मनुष्य का स्वाभाविक उत्साह वर्तमान रहता है, इसी कारण वह इतने बाह्य नहीं जितने कि समझे जाते हैं, उनका हृदय में सम्बन्ध होता है। अतः अलंकारों का उपयोग काव्य में सौन्दर्य वर्धन के लिए ही किया जाता है। और यह उपयोग भाव और अभिव्यक्ति दोनों के सौन्दर्य-वर्धन के लिए ही हो सकता है। एक तरफ तो अलंकारों का काम भावों को रमणीय और सौन्दर्ययुक्त बनाना है, दूसरी ओर उनका काम भावों की अभिव्यक्ति को परिष्कृत करके उन्हें चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बना देना होता है। अलंकारों का उद्देश्य वास्तव में किसी भी वर्णन अथवा भाव को ऐसा चमत्कारपूर्ण, रमणीय तथा आकर्षक बना देना होता है कि जिसे पढ़कर पाठक का हृदय रममय होकर विशिष्ट आनन्द से आप्लावित हो जाय।

इस प्रकार अलंकार काव्य-सौन्दर्य के साधन हैं, वे भाव तथा कल्पना आदि काव्य-तत्त्वों की उपस्थिति में कविता के सौन्दर्य की वृद्धि कर सकते हैं और उसके आकर्षण को द्विगुणित कर सकते हैं, परन्तु उनके अभाव में अलंकारों का कोई सार्थकता नहीं।

भारतीय आचार्यों ने काव्य के विभिन्न अंगों की भाँति अलंकारों का भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अलंकारों के शब्दालंकार तथा अर्थालंकार नामक दो मुख्य भेद हैं। शब्दालंकार शब्द में चमत्कार उत्पन्न करते हैं, और अर्थालंकार अर्थ में। जो अलंकार शब्द तथा अर्थ दोनों में ही चमत्कार लाते हों, उन्हें उभयालंकार कहा जाता है। अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति इत्यादि शब्दालंकार हैं, क्योंकि इनमें शब्दों द्वारा ही चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। अर्थालंकार में कल्पना की प्रधानता रहती है, और इन अलंकारों के उपयोग में कवि का मुख्य उद्देश्य पाठक की बुद्धि और मन दोनों को ही प्रभावित करना होता है। बुद्धि को प्रभावित करने वाली तीन विभिन्न शक्तियों के आधार पर ही इन अलंकारों को साम्यमूलक, विरोधमूलक तथा सान्निध्यमूलक रूप में विभक्त किया जाता है।

साम्य तीन प्रकार का माना जाता है—(१) शब्द की समानता, एक ही प्रकार के शब्दों अथवा सदृश-वाक्यों के आधार पर आयोजित सादृश्य, (२) रूप या आकार की समानता तथा (३) साधर्म्य अर्थात् गुण अथवा क्रिया की समानता। इन दोनों के अन्तरंग में प्रभाव-साम्य भी निहित रहता है। और प्रभाव-साम्य पर आधारित कविता ही अधिक प्रभावोत्पादक होती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा सन्देह इत्यादि अलंकार साम्यमूलक अलंकारों के रूप में गृहीत किये जाते हैं।

परस्पर-विरोधी पदार्थों के देखने पर उनके पारस्परिक विरोध की छाप हमारे चित्त पर अंकित हो जाती है, इसीसे विरोधमूलक अलंकारों का जन्म हुआ है। विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, तथा सम विचित्र इत्यादि बारह विरोधमूलक अलंकार हैं।

जब हम किन्हीं दो या अधिक पदार्थों को एक साथ या एक के बाद अनिवार्य रूप से आने वाला देखते हैं तब एक वस्तु को देखते ही दूसरी वस्तु का सम्बन्ध हम स्वयं स्थापित कर लेते हैं। इसे ही सान्निध्य कहते हैं। संख्या,

पर्याय, परिसंख्या इत्यादि अलंकार सान्निध्यमूलक अलंकार कहलाते हैं ।

अलंकारों का उपर्युक्त वर्गीकरण बहुत सक्षिप्त और सीमित है । अलंकारों की सीमा नहीं बांधी जा सकती और न ही उनकी कोई संख्या निर्धारित की जा सकती है । जब तक मनुष्य में ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा विद्यमान है, तब तक अलंकारों का निरन्तर विकास होता रहेगा और कवि अपनी सूक्ष्म, रुचि तथा शक्ति के अनुसार नित्य नवीन अलंकारों की उद्भावना करते रहेगे ।

७. कविता तथा संगीत

मानव-जीवन में संगीत की महत्ता सभी को स्वीकार है । किन्तु कविता तथा संगीत में पर्याप्त अन्तर है । यह ठीक है कि संगीत और कविता के उद्देश्य में साम्य है, दोनों का उद्देश्य मानव-हृदय को रसाप्लावित करना ही है, परन्तु संगीत का मुख्य कार्य केवल-मात्र भावना को जागृत करना है, जब कि कविता में बुद्धि-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व के सम्मिश्रण से मनुष्य की विवेक-शक्ति और कल्पना-शक्ति दोनों को जागृत करने की क्षमता विद्यमान रहती है ।

केवल भाव-जगत् से सम्बन्धित होने के कारण संगीत का प्रभाव अस्थायी होता है, परन्तु कविता मानव-मस्तिष्क और भाव दोनों को ही समान रूप से प्रेरित करने के कारण अधिक स्थायी और प्रभावोत्पादक होती है । संगीत में साहित्यिक तत्त्वों के मिश्रण से मानव-विवेक को भी प्रभावित किया जा सकता है, किन्तु संगीत का मुख्य क्षेत्र तो भाव-जगत् ही है ।

८. कविता के भेद

पाश्चात्य और भारतीय आचार्यों ने कविता के अनेक भेदोपभेद किये हैं, संक्षेप से हम इनमें से कुछ भेदों का वर्णन करते हुए कविता के आधुनिकतम भेदों की विवेचना करेंगे । पाश्चात्य विचारक डटन ने कविता के दो भेद किये हैं—(१) शक्ति-काव्य (Poetry as an energy) और (२) कला-काव्य (Poetry as an art) । प्रथम में लोक-प्रवृत्ति को प्रभावित और परिचालित करने की शक्ति विद्यमान रहती है, तो दूसरी में आनन्द अथवा मनोरजन की भावना ।

कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक-काव्य (Dramatic Poetry), (२) प्रकृत-काव्य (Realistic Poetry), (३) आदर्शात्मक काव्य (Idealistic Poetry), (४) उपदेशात्मक काव्य (Didactic Poetry)

तथा (५) कलात्मक काव्य (Artistic Poetry) आदि के रूप में अनेक भेद किये हैं।

आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार कविता को व्यक्तित्व-प्रधान अथवा विषयीगत (Subjective) और विषय-प्रधान अथवा विषयगत (Objective) भेदों में विभाजित किया जाता है।

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास उपर्युक्त विभाजन को स्वीकार करते हुए लिखते हैं : “कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं⁽¹⁾—एक तो वह जिसमें कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता तथा प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है, और दूसरा वह जिसमें वह अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में बैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिध्वंजक कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को हम विषय-प्रधान अथवा भौतिक कविता कह सकते हैं।”^१ इस प्रकार कविता के भाव-प्रधान और विषय-प्रधान नाम के ये दो भेद पर्याप्त युक्ति-संगत और विज्ञानिक समझे जाते हैं।

भाव-प्रधान कविता में वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की प्रधानता रहती है, और कवि अपने अन्तर्तम की अभिव्यजना द्वारा अपने सुख-दुःख, हास-विलास और आशा-निराशा का चित्रण करके अपने साथ-साथ पाठक को भी भाव-मग्न कर देता है। भाव-प्रधानता के कारण विषयीगत काव्य में गीतात्मकता की प्रधानता होती है, इसी कारण इसे गीति-काव्य कहते हैं। अंग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहते हैं।

भौतिक अथवा विषयात्मक काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है, और उसे प्रायः वर्णन-प्रधान (Narrative) काव्य भी कहा जाता है। महाकाव्य तथा खण्डकाव्य इसकी प्रमुख शाखाएँ समझी जाती हैं। कहा जाता है कि विषय-प्रधान कविता का स्रोत मनष्य की कर्मशीलता है। प्राचीन काल में प्रचलित वीर पूजा की भावना ही प्राचीन महाकाव्यों के मूल में कार्य करती है। विषय-प्रधान कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह कही जाती है कि उसका कवि के

विचारों तथा अनुभूतियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता ।

६. भाव-प्रधान तथा विषय-प्रधान कविता का अन्तर

ऊपर कविता के दोनों भेदों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया गया है । यहाँ दोनों के संक्षिप्त अन्तर को भी जान लेना उचित ही होगा ।

१. भाव-प्रधान कविता में भावों की प्रधानता रहती है, और कवि का उसके काव्य में स्पष्ट व्यक्तित्व मुद्रण होता है । कवि अपने सुख-दुःख, और आशा-निराशा का वर्णन करके अपने अन्तर्तम की बात कहता है ।

२. विषय-प्रधान काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है, और कवि अप्रत्यक्ष रूप से कथा को कहता है । वर्णन-प्रधान कविता में कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से प्रतिफलित नहीं हो सकता । वह अपने सुख-दुःख और आशा-निराशा का वर्णन न करके अपने युग, समाज तथा जाति की प्रवृत्तियों का चित्रण करता है । कवि वर्णन-प्रधान कविता में अपने-आपको उसी प्रकार छिपाए रखता है जिस प्रकार भगवान् अपने-आपको अपनी सृष्टि में ।

३. भाव-प्रधान कविता का स्रोत अन्तर्तम के उत्कट मनोवेगों में है, अतः उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है ।

४. विषय-प्रधान कविता में कवि बाह्य विश्व से कविता की प्रेरणा प्राप्त करता है, बाह्य प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करके उससे वह अपने काव्य के उपकरणों का चुनाव करता है, इसी कारण उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होती है ।

५. भाव-प्रधान कविता में कवि अपना प्रतिनिधित्व अपने-आप करता है, वह अपने मनोवेगों, मनोभावों और अनुभूतियों के वर्णन के लिए किसी बाह्य साधन का आश्रय ग्रहण नहीं करता ।

६. विषय-प्रधान कविता में कवि का प्रतिनिधित्व उसके अपने नायक या मुख्य पात्र द्वारा होता है । वह अपनी अनुभूतियों, आकांक्षाओं और आदर्शों का वर्णन विभिन्न पात्रों, उनके कथोपकथन, सवाद और विचार-विनिमय द्वारा करता है ।

७. भावों की प्रधानता के कारण विषयीगत कविता में रागात्मकता की प्रधानता होती है, और भावों की अभिव्यक्ति गीतों के रूप में होती है ।

८. विषय-प्रधान काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है, और उसमें कथाओं

का वर्णन किया जाता है । महाकाव्य तथा खण्डकाव्य विषय-प्रधान काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं ।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता के यथार्थ विभाजन की एक निश्चित रेखा निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि काव्य वास्तव में एक अखण्ड अभिव्यक्ति है । उसके ये सम्पूर्ण विभाग केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही किये जाते हैं, तत्त्वतः सभी प्रकार की कविता में एक ही तत्त्व कार्य कर रहा है ।

भारतीय दृष्टिकोण—श्रव्य तथा दृश्य काव्य के रूप में काव्य के भेद करने के अनन्तर भारतीय आचार्यों ने निबन्ध के भेद से श्रव्य काव्य के दो भेद किये हैं—(१) प्रबन्ध काव्य तथा (२) निबन्ध या मुक्तक काव्य ।

१०. प्रबन्ध काव्य के विविध रूप

प्रबन्ध काव्य के भी तीन भेद हैं—महाकाव्य, काव्य और खण्डकाव्य ।

१. महाकाव्य—पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोण के अनुसार महाकाव्य को वर्णन-प्रधान (Narrative) या विषय-प्रधान (Objective) काव्य के अन्तर्गत गृहीत किया जाता है, और इसे एपिक (Epic) कहा जाता है ।

संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में महाकाव्य के विविध अंगों का अत्यन्त विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है, और महाकाव्य की रूपरेखा को इस प्रकार निर्धारित किया गया है—(१) महाकाव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है । (२) उसका नायक धीरोदात्त, क्षत्रिय अथवा देवता होना चाहिए । (३) यह आठ सर्गों से बड़ा तथा अनेक वृत्तों (छन्दों) से युक्त होना चाहिए, परन्तु प्रवाह को व्यवस्थित रूप में रखने के लिए एक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिए । (४) महाकाव्य की कथा इतिहास-सिद्ध होती है, अथवा सज्जनाश्रित । (५) शृंगार, वीर और शान्त रसों में कोई एक रस अग्री रूप में रहता है । (६) प्रकृति-वर्णन के रूप में इसमें नगर, अर्णव (समुद्र), पर्वत, संध्या, प्रातःकाल, संग्राम, यात्रा तथा ऋतुओं आदि का वर्णन भी आवश्यक है ।

महाकाव्य में जीवन की समग्र रूप में अभिव्यक्ति की जाती है, और प्रायः उममे जातीय जीवन को उसकी अनेकानेक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाता है । कथा की दीर्घता के साथ महाकाव्य में आकार की विशालता और भावों की बहुलता विद्यमान रहती है । महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर महा-

काव्य की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि : वर्णनानुगुण से जो काव्य पाठकों को उत्तेजित कर सकता है, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महान् कवि । वह आगे लिखते हैं कि महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिए और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिए । 'वाल्मीकीय रामायण', 'महाभारत', तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' तथा प्रसाद की 'कामायनी' आदि महाकाव्य के उदाहरण हैं ।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—महाकाव्य के उपकरणों पर विचार करते हुए पाश्चात्य आचार्यों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें बड़ा मतभेद पाया जाता है । फ्रेंच आलोचक ल वस्सु महाकाव्य को प्राचीन घटनाओं के चित्रण के लिए एक रूपक के रूप में स्वीकार करता है ।^१ डेवनाण्ट का कथन है कि महाकाव्यों का आधार प्राचीन घटनाओं पर ही प्रतिष्ठित होना चाहिए । क्योंकि सामाजिक घटनाओं की अपेक्षा प्राचीन घटनाओं के चित्रण में कवि अवश्य ही कल्पना की ऊँची उड़ान ले सकता है । इसके अतिरिक्त उसे इस प्रकार की घटनाओं के चित्रण में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता भी रहती है ।

परन्तु सुप्रसिद्ध लुक्न ने उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत प्राचीन घटनाओं की अपेक्षा अर्वाचीन घटनाओं को ही महाकाव्य की पृष्ठभूमि बनाना युक्तियुक्त समझा है । क्योंकि उसके विचार में इससे यह लाभ होगा कि उसमें वर्णित चरित्रों की सजीव प्रतिमा जनता के हृत्पटल पर अंकित हो जायगी ।

महाकाव्य की आधारभूत घटनाओं के सम्बन्ध में रैसॉ ने मध्य मार्ग का अवलम्बन किया है और कहा है कि महाकाव्य की घटनाएँ न तो अत्यन्त प्राचीन ही होनी चाहिएँ और न अत्यन्त नवीन ही ।

पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षणों में विशेष अन्तर नहीं, यह उपर्युक्त तत्त्वों की तुलना से स्पष्ट हो जायगा । पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य में जातीय भावनाओं के समावेश पर अधिक बल दिया है, भारतीय महाकाव्यों में जातीय भावनाओं का युद्ध, यात्रा तथा ऋतु-वर्णन

आदि द्वारा अनुप्रवेश हो जाता है। महाकाव्य-सम्बन्धी भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों में विशेष अन्तर नहीं।

आजकल अवश्य ही महाकाव्य-सम्बन्धी पुरातन आदर्शों का अनुसरण सम्पूर्ण रूप से नहीं किया जा रहा, पुरातन आदर्शों में परिवर्द्धन और संशोधन हो रहे हैं, और नवीन आदर्शों की सृष्टि भी की जा रही है। मानव-सम्प्रदाय विकासशील है, अतः साहित्यिक आदर्शों और उद्देश्यों का विकास भी रुक नहीं सकता।

२. काव्य एक ऐसा काव्य-ग्रन्थ है जो महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है, परन्तु उसमें महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण अप्राप्य होते हैं। विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसी प्रकार के सर्गबद्ध कथा-निरूपक काव्यों को 'एकायं काव्य' कहा है। 'साकेत' आदि काव्य इसीके अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं।

३. खण्डकाव्य में जीवन के एक रूप का ही वर्णन किया जाता है, और उसमें महाकाव्य की किसी एक घटना को ही काव्य का विषय बनाया जाता है। किन्तु यह घटना अपने-आपमें पूर्ण होती है। जीवन की विविधता में से किसी एक पक्ष का चुनाव करके उसका वर्णन करना ही खण्डकाव्य का मुख्य उद्देश्य होता है। गुप्त जी का 'अनघ', 'जयद्रथ-वध' तथा त्रिपाठी जी का 'स्वप्न', 'मिलन' तथा 'पथिक' और कालिदास का 'मेघदूत' काव्य की इसी विधा के उदाहरण समझे जाते हैं।

निर्बन्ध या मुक्तक काव्य में प्रबन्ध काव्य का-सा तारतम्य नहीं रहता, उसका प्रत्येक छन्द अपने-आपमें पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक करने में समर्थ होता है। प्रबन्ध काव्य में जहाँ जीवन की अनेकरूपता अभिव्यक्त होती है, खण्ड काव्य में जीवन के विविध रूपों में से किसी एक रूप या प्रकार का वर्णन रहता है वहाँ मुक्तक काव्य में मन की किसी एक अनुभूति, भाव या कल्पना का चित्रण किया जाता है। निर्बन्ध या मुक्तक काव्य के दो भेद किये जाते हैं—क. मुक्तक (पाठ्य), ख. मुक्तक (गेय)।

(क) मुक्तक (पाठ्य) में विषय की प्रधानता रहती है, और उसके छन्द अधिकतर पाठ्य होते हैं, गेय कम। भाव की अपेक्षा इसमें प्रायः विचार की या लौकिक नैतिक भावनाओं की प्रधानता रहती है। शृंगार तथा वीर रस पर भी बहुत सुन्दर पाठ्य मुक्तकों की रचना हो चुकी है। बिहारी

की 'बिहारी-सतसई', मतिराम तथा दुलारेलाल भार्गव आदि के शृंगार-विषयक दोहे शृंगार रस पर लिखे हुए पाठ्य मुक्तकों के सुन्दर उदाहरण हैं । वृन्द, रहीम, तुलसी तथा कबीर आदि के दोहे तथा सवैये नीति तथा भक्ति-विषयक मुक्तकों के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं ।

(ख) मुक्तक गेय प्रगीत-काव्य कहलाते हैं, अंग्रेजी में इन्हें लिरिक (Lyric) कहा जाता है । इनमें निजत्व अधिक रहता है, भावनाओं की प्रधानता होती है, और इसी कारण इनमें रागात्मकता आ जाती है । ये स्वर, ताल तथा लय से बँधे हुए होते हैं, और गेय होते हैं । वैयक्तिकता, भावात्मकता तथा रागात्मकता इसे स्पष्ट रूप से पाठ्य मुक्तक से पृथक् कर देती है । प्रसाद, पन्त, निराला, मीरा तथा कबीर, तुलसी और सूरदास आदि के गीत प्रगीत-काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं ।

११. भारतीय महाकाव्यों की परम्परा

भारतीय महाकाव्यों की परम्परा का प्रारम्भ आदि-कवि वाल्मीकि से माना जाता है । वाल्मीकि के महाकाव्य रामायण ने भारतीय जीवन में असीम रस और जीवन का संचार किया है । यही कारण है कि वाल्मीकि महर्षियों में गिने जाते हैं, और उनका देव-तुल्य सम्मान किया जाता है । वास्तव में वाल्मीकि आदि प्राचीन काल के महान् भारतीय कवियों की कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वे दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न थे, उनका काव्य अलौकिक था । इसी कारण तो उपनिषद् में कहा गया है : 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' । भारतीय संस्कृति में ऋषियों का स्थान बहुत ऊँचा है, उन्हें दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न समझा जाता है, कवि को ऋषि का स्थान प्रदान करके भारतीय जनता ने उनमें अपना अगाध विश्वास प्रकट किया है ।

'रामायण' में रामराज्य के रूप में एक आदर्श समाज का चित्रण किया गया है, पृथ्वी पर भी स्वर्गीय सुख-सुविधाओं का अवतरण किस प्रकार हो सकता है ? मानव-जीवन को किस प्रकार आदर्श स्वरूप में उपस्थित किया जा सकता है ? इत्यादि बातों पर 'वाल्मीकि रामायण' में विचार किया गया है, और एक आदर्श मानव-समाज के चित्रण द्वारा कवि ने इन आदर्शों को पूर्ण करने का

प्रयत्न किया है। 'महाभारत' को हमारे यहाँ इतिहास कहा गया है, परन्तु आधुनिक युग में अंग्रेजी समीक्षा-पद्धति के अनुसार उसे भी महाकाव्य माना जाता है। महाभारत के कर्ता महर्षि व्यासदेव माने जाते हैं। महाभारत में व्यासदेव ने जीवन के भौतिक पक्ष की असीम उन्नति को चित्रित करके उसकी नश्वरता और तथ्यहीनता को प्रदर्शित किया है। हिन्दू समाज के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक आदर्शों का इसमें बहुत सूक्ष्म विवेचन किया गया है, और वस्तुतः उसे भारतीय संस्कृति का विश्व-कोष कहना अधिक उपयुक्त है। मानव-जीवन की जितनी सुन्दर और पूर्ण अभिव्यक्ति महाभारत में हुई है, उतनी शायद ही अन्य किसी महाकाव्य में हुई हो। जीवन के विविध रूपों पर प्रकाश डालने के लिए महाभारत में अनेक प्रासंगिक कथाओं की रचना की गई है, शकुन्तला, ययाति, नहुष, नल, विदुला तथा सावित्री आदि से सम्बन्धित उपाख्यान बाद के भारतीय साहित्य के आधार बने हैं। यही कारण है कि माश्चात्य विद्वानों ने महाभारत के लिए महाकाव्य के भीतर (Epic within epic) महाकाव्य कहा। वस्तुतः यह कथन युक्तियुक्त है कि महाभारत अपने-आपमें पूर्ण एक समग्र साहित्य (Whole literature) है।

महाभारत तथा रामायण के अनन्तर संस्कृत-साहित्य में इतने शक्तिशाली महाकाव्यों की रचना नहीं हो सकी। इन महाकाव्यों की रचना के बाद का अधिकांश भारतीय साहित्य इनमें वर्णित आख्यानों और उपाख्यानों पर ही आधारित है। ये दोनों महाकाव्य हमारे सम्पूर्ण साहित्य के प्रेरणा-स्रोत हैं, और आधुनिक युग में भी हमारे कवि इन्हीं विशालकाय महाकाव्यों के आधार पर अपने काव्यों को आधारित करते रहे हैं।

वाल्मीकि तथा व्यास के पश्चात् कालिदास का स्थान है। कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रघुवंश' है। कालिदास के अनन्तर भारवि (किरातार्जुनीय) तथा माघ (शिशुपाल-वध) आदि का स्थान है। इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े काव्यों और महाकाव्यों की रचना होती रही, जिनका साहित्यिक जगत् में समुचित आदर हुआ है।

१२. हिन्दी के महाकाव्य

हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य होने का श्रेय चन्दबरदाई-रचित 'पृथ्वीराज रासो' को ही है। यद्यपि बा० श्यामसुन्दर दास आदि विद्वान् इसे महाकाव्य न

मानकर एक विशालकाय वीर-काव्य ही मानते हैं, और कथा तथा इसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर भी यह अप्रामाणिक माना जाता है, तथापि लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार 'रासो' को महाकाव्य कहना सर्वथा युक्तियुक्त है । क्योंकि इसकी सम्पूर्ण कथा ६६ सम्यों में विभक्त है, इसमें कवित्त, तोटक, दोहा, गाथा तथा आर्या आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है । इसका नायक पृथ्वीराज सत्रिय-कुल-भूषण वीर पुरुष है । इसमें अनक युद्धो, यात्राओं और प्राकृतिक दृश्यों का बहुत आकर्षक वर्णन किया गया है । 'पृथ्वीराज रासो' में वीर रस के साथ-साथ शृंगार तथा शान्त रस का भी पर्याप्त सुन्दर सम्मिश्रण है । बा० श्यामसुन्दर दास ने इस महाकाव्य के महत्त्व को निम्न लिखित शब्दों में प्रकट किया है :

“पृथ्वीराज रासो’ समस्त वीर-गाथा-युग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है । इस काल की जितनी स्पष्ट झलक इसी एक ग्रन्थ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में भी नहीं मिलती । छन्दों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई पड़ता । पूरी जीवन-गाथा होने से इसमें वीर-गीतों की-सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आगे पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है । यद्यपि ‘रामचरितमानस’ अथवा ‘पद्मावत’ की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परन्तु इस ग्रन्थ में वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं-कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है । रसात्मकता के विचार से उसका गणना हिन्दी के थोड़े-से उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थों में हो सकती है ।”^१

‘पद्मावत’ हिन्दी के श्रेष्ठ महाकाव्यों में गिना जाता है । भक्ति-काल में प्रेमाश्रयी शाखा के सर्वप्रमुख कवि जायसी ने इस महाकाव्य द्वारा लौकिक प्रेम के रूप में अलौकिक और आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत किया है । पद्मावती और रतनसेन की कथा के साथ-साथ रूपक भी चलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी का मुख्य उद्देश्य इस रूपक द्वारा अपने विशिष्ट धार्मिक और दार्शनिक

सिद्धान्तों को उपस्थित करना ही था। परन्तु कथा-तत्त्व और प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से भी 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य बन पड़ा है।

'रामचरितमानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। जीवन के नाना रूपों की अभिव्यक्ति के लिए और मध्यकालीन आदर्श-हीन समाज के सम्मुख एक महान् आदर्श को प्रस्तुत करने के लिए ही इस महाकाव्य की रचना हुई है। यद्यपि तुलसीदास जी ने इस महाकाव्य को 'स्वान्त. सुखाय' ही लिखा है तथापि प्राचीन भारतीय वाङ्मय की समस्त परम्परा को और दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों को उसमें सन्निहित करने का प्रयत्न किया गया है। तुलसीदास जी ने प्रारम्भ में ही घोषणा कर दी है :

“नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्—

रामायणे निगदितं वचचिदन्त्यतोपि ।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा—

भाषा - निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥”

'नाना पुराण निगमागम' के साथ लोक-हित की भावना कार्य कर रही है। 'रामचरितमानस' का कथानक अत्यन्त प्राचीन और परम्परागत प्रचलित है। 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमन्नाटक', 'प्रसन्न राघव' तथा 'श्रीमद्भागवत' और अन्य अनेक ग्रन्थों से उन्होंने अपने महाकाव्य के कथानक की सामग्री चुनी है, किन्तु अनेक स्थलों पर गोस्वामी जी ने अपनी सुविधा के लिए कथा में परिवर्तन भी कर लिया है। यद्यपि 'रामचरितमानस' की कथा तीन विभिन्न पात्रों द्वारा कहलाई गई है, तथापि उसके प्रवाह और स्वाभाविकता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। परम्परागत प्राचीन कथा को भी तुलसीदास जी ने अपनी कल्पना तथा प्रतिभा द्वारा इस रूप में रखा है कि वह सर्वथा नवीन और भव्य बन गई है। कथा के अन्तर्गत राजकीय उत्सव, युद्ध, यात्रा, संवाद, तथा उपवन और वाटिकाओं के वर्णन बहुत सुन्दर, स्वाभाविक तथा प्रासंगिक बन पड़े हैं। पात्रों के संवाद प्रसंगानुकूल और स्वाभाविक हैं, वे अधिक लम्बे नहीं, न ही उनमें कही शिथिलता आने पाई है।

कथा के अन्तर्गत मार्मिक स्थलों के चुनाव में भी तुलसीदास जी ने मानव की आन्तरिक और बाह्य प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण करके वर्णन किया है। प्रत्येक पात्र के आन्तरिक विचार इस रूप में प्रकट किये गए हैं कि वह

सर्वथा सजीव और जागृत बन पडा है, पात्रो तथा प्रसंगों के अनुकूल भाषा ने तो और भी अधिक चमत्कार और प्रवाह ला दिया है । जायसी की अवधी ग्रामीण थी, परन्तु तुलसीदास जी की परिष्कृत तथा संस्कृत-गर्भित साहित्यिक है । गोस्वामी जी ने केशवदास की भोंति छन्दों तथा अलंकारों की रेल-पेल तो प्रदर्शित नहीं की, परन्तु दोहा-चौपाई के अतिरिक्त छप्पय, कवित्त तथा सवैया इत्यादि को भी प्रसंगानुकूल प्रयुक्त किया है । पात्रों के चरित्र-चित्रण में और प्रकृति-वर्णन में तुलसीदास जी ने काव्य-मर्मज्ञता का पूर्ण परिचय दिया है ।

इसी समय के लगभग लिखी हुई केशवदास की 'राम चन्द्रिका' भी प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत गृहीत की जाती है । किन्तु कथानक का प्रवाह, तारतम्य और प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक गाम्भीर्य का उसमें सर्वथा अभाव है । छन्दों तथा अलंकारों को अधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण केशवदास इसमें मार्मिक स्थलों का चुनाव नहीं कर सके । उनकी रुचि पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर ही रही है, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण बिना प्रसंग-ज्ञान के ही अलंकारों को भरने का प्रयत्न किया गया है, परिणामस्वरूप कथा में शैथिल्य आ गया है । चरित्र-चित्रण भी त्रुटिपूर्ण है । अनेक स्थलों पर उन्होंने भगवान् राम के मुख से ही सर्वथा अनुपयुक्त और अप्रासंगिक बातें कहलाई हैं । इस प्रकार प्रबन्ध-निर्वाह, मार्मिक स्थलों का चुनाव और चरित्र में असफल रहने के कारण 'राम चन्द्रिका' प्रबन्ध-काव्य, न होकर मुक्तक काव्य कहलाने के ही उपयुक्त है ।

आधुनिक युग में राम-काव्य की परम्परा गुप्तजी के 'साकेत' द्वारा पुनर्जीवित हुई है । इस अन्तर में भगवान् राम के जीवन पर काव्य-ग्रन्थ लिखे तो अवश्य गए हैं, किन्तु काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं । डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'साकेत' के सृजन में दो प्रेरणाएँ थी—(१) राम-भक्ति और (२) भारतीय जीवन को समग्र रूप में देखने और समझने की लालसा । यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रेरित उर्मिला-विषयक कवियों की उपेक्षा को दूर करने के लिए 'साकेत' की सर्जना करते हुए भी गुप्तजी राम-कथा के प्रवाह में बह गए ।

'साकेत' की कथा 'वाल्मीकीय रामायण' और 'रामचरितमानस' पर ही आधारित है, किन्तु गुप्तजी ने अपनी अनुकूलता के अनुसार उसमें अनेक परिवर्तन कर दिए हैं, यही कारण है कि उसमें मौलिक कथा का-सा आनन्द आता

है। उर्मिला को महत्त्व प्रदान करने के लिए कथा का सम्पूर्ण घटना-क्रम साकेत नगरी तक ही सीमित रहा है। जो घटनाएँ 'साकेत' में घटित नहीं हुई वह उर्मिला, हनुमान और वशिष्ठ जी द्वारा कहला दी गई हैं।

'साकेत' का मुख्य उद्देश्य उर्मिला का विरह-वर्णन है। उर्मिला कवियों की उपेक्षिता रही है, रवीन्द्रनाथ तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि इस निर्मम उपेक्षा से विचलित हो उठे, उन्होंने अपने लेखों द्वारा इस अव्यक्त वेदना देवी की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। 'साकेत' की रचना इन्हीं प्रेरणाओं से हुई है, इस काव्य-ग्रन्थ का प्रासाद उर्मिला के अश्रुओं पर ही आधारित है। उर्मिला के अश्रुओं की प्रमुखता के कारण ही कुछ आलोचक 'साकेत' को 'उर्मिला-उत्ताप' कहना अधिक युक्ति-सगत समझते हैं। कवि ने काव्य का नवम संग उर्मिला के विरह-वर्णन में ही खपा दिया है। इस अति रुदन से कुछ लोग क्षुब्ध हो उठे हैं और वे इसे एक महाकाव्य की नायिका के लिए उपयुक्त नहीं मानते। किन्तु उर्मिला को प्रमुखता प्रदान करने के लिए यह स्वाभाविक ही है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उर्मिला का चरित्र बहुत मार्मिक और सुन्दर है, उममें कोई कमी नहीं।

'वाल्मीकि रामायण' या 'रामचरितमानस'-जैसे महाकाव्यों की तो आज हम आशा नहीं कर सकते। अब तो गीति-काव्य की ही प्रधानता है। 'साकेत' आदि महाकाव्य प्राचीन महाकाव्यों के कथानको के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। उनमें नैसर्गिकता अथवा मौलिकता का अभाव है, और कल्पना की प्रधानता है। वे अपने समकालीन मानव-समाज के आदर्शों और परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं, उनमें किसी महान् आदर्श की उपस्थिति नहीं होती। तथापि प्रबन्ध काव्य के लक्षणों और सांस्कृतिक महत्ता की दृष्टि से 'साकेत' हिन्दी के उत्कृष्ट महाकाव्यों में गिना जा सकता है।

'साकेत सन्त' लिखकर पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने भरत के चरित्र को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। राम-चरित्र से सम्बन्धित होने पर तो भरत की महत्ता है ही, किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी भरत का त्यागपूर्ण जीवन एक काव्य-ग्रन्थ के लिए उपयुक्त हो सकता है। 'साकेत-सन्त' में भरत के पावन चरित्र का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। वर्तमान युग की बौद्धिकता के प्रभाव के फलस्वरूप इसमें कल्पना अथवा भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रधानता

है । यही कारण है कि इसमें यत्र-तत्र शुष्कता भी आ गई है, किन्तु मार्मिक स्थलों के वर्णन में कवि ने अपनी भावुकता का अच्छा परिचय दिया है । वर्तमान युग की विचार-धाराओं से भी 'साकेत-सन्त' का कवि पर्याप्त प्रभावित है । एक राष्ट्रीयता, भारत की अखण्डता और गांधीवादी नैतिकता की भावनाएँ इसमें यत्र-तत्र मिल जाती हैं ।

कृष्ण-चरित्र पर लिखे काव्य-ग्रन्थों में हरिऔध जी का 'प्रिय-प्रवास' प्रमुख है । इसमें करुण तथा वियोग शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य के वियोग-पक्ष की प्रमुखता है । हरिऔध जी ने आधुनिक दृष्टिकोण से राधा-कृष्ण के चरित्र की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है । कृष्ण नायक है, यद्यपि काव्य-ग्रन्थ में उनका प्रत्यक्ष अवतरण बहुत थोड़ा ही है । कृष्ण के लोक-रक्षक रूप का वर्णन तो पर्याप्त हो चुका है, किन्तु उनके लोक-रक्षक रूप का वर्णन नहीं हुआ । हरिऔध जी ने इस कमी को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है, उन्होंने कृष्ण के प्रेमी-हृदय के प्रदर्शन के साथ उनके कर्तव्य-परायण रूप का भी दिग्दर्शन कराया है । कृष्ण रूप, सौन्दर्य तथा सहृदयता आदि गुणों से युक्त महापुरुष हैं, उनमें सेवाभाव की प्रधानता है । नवयुवकों के वह स्वभाव-सिद्ध नेता हैं, वृद्धों के प्रिय हैं और ब्रज-युवतियों के आराध्य । क्या नन्द, क्या यशोदा, क्या गोप, क्या आभीर और क्या गोपियाँ सभी उनके गुणों पर मुग्ध हैं । गोपियों से गो-रस-सम्बन्धी छेड़-छाड़, चौर-हरण आदि की लीलाओं को हरिऔध जी ने अपने ग्रन्थ में नहीं रखा । उनके लोक-हितकारी रूप को ही हरिऔध जी ने प्रधानता प्रदान की है ।

यशोदा तथा नन्द आदि का चित्रण भी बहुत मार्मिक है । प्रकृति-वर्णन प्रसंगानुकूल है । काव्य के नायकों की आन्तरिक प्रकृति के अनुकूल बाह्य प्रकृति का चित्रण भी हुआ है । ऋतु-वर्णन में भी कवि ने अवसर की अनुकूलता का ध्यान रखा है; जैसे, दावाग्नि के समय ग्रीष्म का वर्णन और गोवर्धन-धारण के समय वर्षा का । 'प्रिय-प्रवास' की भाषा संस्कृत-गर्भित है, किन्तु अनेक स्थलों पर ब्रज, अवधी तथा अरबी-फारसी के शब्द भी प्रयुक्त किये गए हैं । संस्कृत के अपरिचित शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा क्लिष्ट हो गई है । विविध छन्दों का प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है । भाषा, भाव और महाकाव्य के लक्षणों के अनु-सार 'प्रिय-प्रवास' की समीक्षा उसकी उत्कृष्टता को संदिग्ध नहीं रहने देती ।

किन्तु कथानक के स्खलन और विरह-वर्णन की प्रधानता के कारण 'प्रिय-प्रवास' की कथा का प्रवाह अटूट नहीं रहा।

पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य भी विशेष महत्वपूर्ण है। मिश्र जी ने सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र को अपने प्रबन्ध-काव्य का विषय बनाया है। पुस्तक की भाषा अवधी है, और गोस्वामी जी के अनुकरण पर उन्होंने भी दोहा, चौपाई और सोरठा छन्द को अपनाया है।

'कामायनी' हिन्दी का उत्कृष्टतम महाकाव्य है। 'प्रसाद' जी ने मानवीय संस्कृति और मानवीय भावनाओं की अपने इस महान् काव्य-ग्रन्थ में विशद व्याख्या की है। 'कामायनी' का कथानक ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् तथा श्रीमद्भागवत पर आधारित है।

कथानक के विभिन्न तत्वों को शृङ्खला-बद्ध करने के लिए कवि ने कल्पना से भी काम लिया है। काव्य के मुख्य पात्र तीन हैं—मनु, श्रद्धा तथा इड़ा; यदि मानव की महत्ता को स्वीकार किया जाय तो साढ़े तीन। मनु द्वारा नूतन मानव-सृष्टि का प्रादुर्भाव और विकास ही इस कथानक की आधार-भूमि है, किन्तु इस कथानक के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक विवेचन के लिए रूपक भी चलता रहता है। मनु, इड़ा तथा श्रद्धा अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हुए भी सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, क्योंकि मनु अर्थात् मन के दोनों पक्षों—हृदय और मस्तिष्क का क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। इस प्रकार 'कामायनी' में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ रूपक का भी बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

केवल कथानक की दृष्टि से 'कामायनी' का अध्ययन करने वाले पाठक को अवश्य ही निराश होना पड़ेगा। क्योंकि कथोपकथन बहुत सक्षिप्त और कही-कही विशृङ्खल भी है।

प्रारम्भिक सर्गों में कथा का प्रवाह कुछ धीमा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने चिन्ता, काम, आशा, लज्जा आदि सर्गों के रूप में स्वतन्त्र गीतों की रचना की हो। अन्तिम भाग में कथा का प्रवाह तीव्र है, और घटना-क्रम सुव्यवस्थित है। यद्यपि कवि ने अपनी उर्वरा कल्पना द्वारा रोचकता को बनाए रखने का प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं-कहीं कथानक उखड़ गया है।

कलात्मक विकास की दृष्टि से 'कामायनी' प्रसाद जी की कला की चरम

सीमा है। कवि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों को भी शब्द-चित्र द्वारा प्रस्तुत करने में बहुत सफल हुआ है। 'चिन्ता' और 'लज्जा'—जैसे अव्यक्त भाव को भी प्रसाद जी ने शब्दों में इस प्रकार उपस्थित किया है कि वह हमारे सामने स्पष्ट चित्रवत् साकार हो जाती है।

प्रसाद जी की कल्पना बहुत रंगीन है, मानवोद्य चित्र भी बहुत आकर्षक है। 'अवयव की बूढ़ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार' में मनु का, और 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल' में इडा का बहुत ही सुन्दर शब्द-चित्र बना है।

'कामायनी' में प्रकृति निरन्तर कवि के साथ है। प्रकृति के भयंकर और सुकुमार दोनों ही रूपों का वर्णन चित्रोपम है। कवि ने पात्रों की अवस्था के अनुकूल ही प्रकृति की अवस्था चित्रित की है। जब श्रद्धा और मनु का मिलन होता है तब मधुमय बसन्त की उपस्थिति होती है, और जब इडा और मनु में मतभेद हो जाता है तो प्रकृति भी क्षुब्ध हो उठती है।

'कामायनी' के कवि की सबसे बड़ी विशेषता उसकी मौलिकता है, वह नक्काल नहीं है। उसने जो-कुछ लिखा वह शत-प्रतिशत उसकी अपनी अनुभूति है। विश्व और जीवन की समस्याओं को उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार देखा और उनका समाधान भी अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही किया। सस्ती भावुकता के प्रेमी पाठकों के लिए 'कामायनी' की रचना नहीं हुई, उसका लक्ष्य तो चिन्तनशील सरस हृदय है।

प्रसाद जी ने श्रद्धा द्वारा मानव को इडा के सुपुर्द करके बुद्धि और श्रद्धा के समन्वय का प्रयत्न किया है। यंत्र-युग की भौतिकता को निन्द्य ठहराकर उन्होंने गांधीवाद का समर्थन किया है, और जीवन की आनन्द के रूप में परिणति करके उन्होंने शैव-दर्शन का प्रतिपादन किया है। 'कामायनी' में प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है, सांस्कृतिक संघर्ष के वर्णन का भी अभाव नहीं। विभिन्न छन्द रस, रीति तथा अलंकार 'कामायनी' को महाकाव्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

'कामायनी' निश्चय ही हिन्दी-साहित्य के नवयुग का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य और विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। वैयक्तिकता की प्रधानता के फल-स्वरूप आधुनिक युग में महाकाव्य अधिक नहीं लिखे जा रहे, गीति-काव्य की ही प्रधानता है। उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त 'बेदेही-वनवास' (हरिप्रोद्य),

‘कुरुक्षेत्र’ (दिनकर), ‘आर्यावर्त’ (मोहनलाल महतो ‘वियोगी’), ‘दैत्यवंश’ (हरदयालुसिंह), ‘नूरजहाँ’ (गुरुभक्तसिंह ‘भक्त’) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

१३. पाश्चात्य महाकाव्य

महर्षि वाल्मीकि की भाँति होमर (Homer) पाश्चात्य साहित्य का सर्व-प्रथम महाकवि माना जाता है, और उसके ‘इलियड’ (Illiad) में ग्रीक के इतिहास में प्रसिद्ध ‘ट्राजन-वार’ नामक युद्ध का वर्णन किया गया है । ट्राय के राजकुमार पेरिस द्वारा मेनिलास की स्त्री रूपवती हेलेन के भगाए जाने पर युद्ध का प्रारम्भ हुआ । बहुत भीषण युद्ध हुआ । ग्रीस-निवासियों की विजय हुई और हेलेन मेनिलास को मिल गई ।

‘ओडेसी’ (Odyssey) में यूलीसिस नामक ग्रीक-नरेश की रोमांचकारी यात्रा का वर्णन है । होमर एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न कवि था । उसकी कल्पना-शक्ति बहुत उर्वरा थी । उसके काव्य के पात्र सशक्त हैं, उसने अत्यन्त सूक्ष्म मनोविज्ञानिक विवेचन करके उनका बहुत सुन्दर चित्रण किया है । सुप्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने होमर के काव्य में तीन प्रमुख गुण माने हैं—

- (१) वेग—होमर की कविता पहाड़ी निर्भर की भाँति वेगमयी है ।
 - (२) विशदता—होमर को कविता के भाव बहुत विशद और प्रसाद गुणयुक्त हैं ।
 - (३) भावों की उच्चता—यह मनुष्यत्व में देवत्व की स्थापना करती है ।
- होमर के काव्य में हम ग्रीस की सम्यता को प्रतिबिम्बित होता हुआ पाते हैं । वर्जिल (Vergil) का ‘इनियड’ (Aenied) होमर के काव्य के नमूने पर ही आधारित है ।

इटली का दाँते नामक कवि पाश्चात्य साहित्य में होमर और वर्जिल की टक्कर का कवि माना जाता है । १८ वर्ष की अवस्था में एक रूपवती कुमारी पर मुग्ध होकर दाँते ने एक अमर प्रेम-प्रधान गीति-काव्य की रचना की । किशोरावस्था के इस सफल प्रेम ने दाँते के सम्पूर्ण जीवन को सवेदना-प्रधान बना दिया । ‘डिवाइन कामेडी’ दाँते का महाकाव्य है, इसके प्रथम खण्ड में नरक की कथा है, दूसरे में पाप-क्षय-भूमि का वर्णन है, और तीसरे में स्वर्ग का ।

मिल्टन (Milton) के ‘पैराडाइज लास्ट’ (Paradise Lost) में ईश्वर के विरुद्ध शैतान के विद्रोह तथा पतन का और मनुष्य के उद्धार का

वर्णन है। इसमें साम्प्रदायिक भावनाओं की प्रधानता है, वह अपने युग का प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं।

पाश्चात्य साहित्य में इस प्रकार के अनेक महाकाव्यों की रचना हुई, परन्तु 'इलियड' तथा 'ओडेसी' की-सी क्षमता उनमें अप्राप्य है।

१४. खण्डकाव्य

साहित्य दर्पणकार पंडित विश्वनाथ ने खण्डकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है :

“तत्तु घटना प्राधान्यात् खण्डकाव्यमिति स्मृतम्।”

अर्थात् खण्डकाव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर लिखा गया हो। अन्यत्र खण्डकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया गया है :

खण्डकाव्य भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।

अर्थात् खण्डकाव्य वह है जो किसी महानायक के जीवन के एक ही पहलू अथवा तत्सम्बन्धी एक ही घटना पर प्रकाश डाले। इस प्रकार खण्डकाव्य में एक ही घटना की प्रधानता होती है, और उसमें मानव-जीवन के एक ही अंश पर प्रकाश डाला जाता है। अतः जिस श्रव्य काव्य में किसी महापुरुष के जीवन के एक ही अंग का विश्लेषण हो उसे हम खण्डकाव्य कह सकते हैं। खण्डकाव्य में एक ही छन्द प्रयुक्त होता है। खण्डकाव्य की आधुनिक एकांकी से तुलना की जा सकती है।

हिन्दी में खण्डकाव्य—हिन्दी-साहित्य में खण्डकाव्य की परम्परा विभिन्न रूपों में विकसित हुई है; हिन्दी-साहित्य के आदि काल में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की अस्थिरता के कारण काव्य के इस अंग की पर्याप्त अभिवृद्धि नहीं हो सकी।

भक्ति काल की प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों द्वारा लिखित मृगावती (कुतबन), चित्रावली (उसमान), ज्ञान-दीप (शेख नबी) तथा इन्द्रवती (नूर मुहम्मद) इत्यादि प्रेम-गाथाएँ खण्डकाव्य के अन्तर्गत गृहीत की जा सकती हैं। क्योंकि इनमें प्रबन्धात्मक तत्त्वों का अभाव है। कथा-तत्त्व और छन्द की दृष्टि से इन्हें खण्डकाव्य ही समझना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदास, नरोत्तमदास और आलम ये भक्ति काल के तीन प्रमुख खण्डकाव्य-रचयिता हैं। गोस्वामी जी के 'कवितावली', 'गीतावली', 'जानकी-

मंगल' और 'पार्वती-मंगल' उत्कृष्ट खण्डकाव्य है। नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' तो बहुत प्रसिद्ध है। इसमें करुणा रस की प्रधानता है, और इसकी भाषा अत्यन्त मधुर और प्रसाद-गुण-युक्त ब्रजभाषा है। काव्य के प्रधान नायक कृष्ण हैं। सुदामा के दैन्य का बहुत मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। 'सुदामा-चरित' का निम्न लिखित पद्य बहुत प्रसिद्ध है :

“सीस पगान भगा तन पं, ५ भुजाने को आहि, बसे केहि ग्रामा ।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु, पाय उपानहु को नहि सामा ॥
द्वार खड़ो द्विज दुबल एक, रह्यो चकि सों वसुधा अभिरामा ।
पूछत दीन दयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥”

आलम का 'माधवानल काम कंदला' एक सुन्दर खण्डकाव्य है, इसमें शृंगार और प्रेम की प्रधानता है। नन्ददास का 'भ्रमर-गीत' और 'रासपंचाध्यायी' भी उत्कृष्ट खण्डकाव्य हैं, इनके कथानक प्रायः पौराणिक हैं।

रीतिकाल में 'सुजान-चरित्र' (सूदन), 'छत्रप्रकाश' (लाल) तथा 'हम्मीर हठ' (चन्द्रशेखर) इत्यादि अनेक ऊँचे दर्जे के खण्डकाव्य लिखे गए। ब्रजवासी-दास, पद्माकर तथा सबलसिंह चौहान ने भी इस विषय में विशेष प्रयत्न किया। नवयुग के प्रारम्भ में पंडित श्रीधर पाठक ने ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में बहुत सुन्दर खण्डकाव्य लिखे। 'ऊजड़ ग्राम' तथा 'श्रान्त पथिक' दोनों अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ (Goldsmith) के काव्यों के अनुवाद हैं। बाबू जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' द्वारा लिखित 'गंगावतरण', 'उद्धव शतक' तथा 'हरिश्चन्द्र' उत्कृष्ट खण्डकाव्य हैं। तीनों खण्डकाव्यों की कथा पौराणिक है। भाषा विशिष्ट प्रवाह तथा ओजयुक्त है। वर्णन की मार्मिकता तथा कथा की रोचकता रत्नाकर जी के काव्यों की प्रमुख विशेषता है। इसी समय पंडित नाथूरामशंकर ने 'वायस-विजय' तथा 'गर्भरण्डारहस्य' नामक खण्डकाव्य लिखे थे। उनकी कथा मनोरंजक है, करुण रस की प्रधानता है, भाषा में ओज और प्रवाह है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ-वध' आचार्यों के लक्षण के अनुरूप है। महाभारत के जयद्रथ की कथा इसका आधार है, इसमें वीर तथा करुण रस की प्रधानता है। भाषा प्रसगानुकूल तथा प्रवाहमयी है। सम्पूर्ण काव्य में हरिगीतिका छन्द ही प्रयुक्त किया गया है।

'जयद्रथ-वध' के अतिरिक्त गुप्तजी के 'पंचवटी', 'अनघ', 'काबा और कर्बला'

तथा 'नहुष' भी सफल खण्डकाव्य है। गुप्तजी के अनुज श्री सियारामशरण गुप्त भी हिन्दी के एक उत्कृष्ट कवि हैं, उन्होंने 'मौर्य-विजय' तथा 'रंग में भंग' नामक दो छोटे खण्डकाव्य लिखे हैं। इन खण्डकाव्यों का कथानक त्रयशः मौर्य-काल तथा राजपूत-काल की दो ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं। 'पथिक', 'मिलन' तथा 'स्वप्न' पंडित रामनरेश त्रिपाठी के तीन बहुत सुन्दर खण्डकाव्य हैं। तीनों काव्यों का कथानक काल्पनिक और चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर है। भावपूर्ण वर्णन-शैली काव्य में चमत्कार और सरसता को द्विगुणित कर देती है। प्रकृति-वर्णन त्रिपाठी जी के खण्डकाव्यों की प्रमुख विशेषता है। ये खण्डकाव्य प्रायः देश-भक्तिपूर्ण कथानकों पर आधारित हैं।

निराला का 'तुलसीदास' भी खण्डकाव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किया जाता है। 'नवीन' की 'विस्मृता उर्मिला' तथा डॉक्टर रामकुमार वर्मा की 'चित्तोड़ की चिता' आधुनिक समय के सुन्दर खण्डकाव्य हैं। पन्त जी की 'ग्रन्थि' एक प्रेम-प्रधान सफल खण्डकाव्य है। निराला जी की शैली ओजपूर्ण है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा के खण्डकाव्य में वर्णन की प्रधानता है, और पन्त जी की 'ग्रन्थि' प्रेम-कथा पर आधारित है।

सामयिक युग में कथा-काव्य के ह्रास के कारण खण्डकाव्य की परम्परा का विशेष विकास नहीं हो रहा।

१५. मुक्तक काव्य

प्रबन्ध काव्य का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, अब हम कविता के दूसरे प्रमुख भेद—मुक्तक काव्य पर विचार करेंगे। मुक्तक काव्य में प्रबन्ध काव्य के समान कथा द्वारा रसाभिव्यक्ति नहीं होती। उसमें प्रत्येक अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है और बिना किसी पूर्वापर प्रसंग के अर्थ को प्रकट कर देता है।

अभिनव गुप्ताचार्य ने इसीलिए कहा है : पूर्वापर निरपेक्षाति येन रस-चर्वणा क्रियते तन्मुक्तम् । अर्थात् पूर्वापर प्रसंग और पद्यों का सहारा न होने पर भी जिसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाय उसे मुक्तक कहते हैं। 'अग्नि पुराण' में कहा गया है . मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारः क्षमः सताम् । अर्थात् मुक्तक रचना उसे कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने में स्वतः समर्थ हो।

पीछे हमने सुप्रसिद्ध आलोचक बा० गुलाबराय के अनुसार मुक्तक काव्य

के पाठ्य और गेय दो भेद किये हैं, वस्तुतः यह भेद स्थूल हैं और केवल अध्ययन की सुविधा के लिए ही किये गए हैं । गेय तथा पाठ्य मुक्तक की विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है । हिन्दी-साहित्य में नीति, शृङ्गार तथा वीर रस-विषयक सूक्तियाँ और दोहे पाठ्य मुक्तक के अन्तर्गत ही गृहीत किये जाते हैं ।

१६. प्रगीत-काव्य

गेय मुक्तक प्रगीत-काव्य कहलाते हैं । प्रगीत में वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता रहती है, अतः गीति-काव्य की संज्ञा तभी होती है जब भावों के आवेश से प्रेरित होकर निजी उद्गारों को काव्योचित भाषा में प्रकट किया जाता है । ये भाव स्वयं कवि के अथवा उसके जीवन से सम्बन्धित भी हो सकते हैं और कवि-निर्मित किसी पात्र के भी । कहने का अर्थ तो यह है कि सजीव भाषा में व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों तथा भावों के साक्षात् कराने की क्षमता ही प्रगीत-काव्य की विशेषता है । किन्तु व्यक्तिगत भाव और अनुभूति की तीव्रता प्रगीत-काव्य में रागात्मकता को भर देती है । गीति-काव्य में रागात्मकता, निजीपन और अनुभूति की प्रधानता रहती है ।

प्रगीत-काव्य का कवि गीति-काव्य में जो-कुछ कहता है, वह उसकी निजी अनुभूति होती है, उसमें उसके अपने दृष्टिकोण की प्रधानता रहती है । व्यक्तित्व की इसी प्रधानता के साथ गीति-काव्य में रागात्मकता आ जाती है । अतः प्रगीत-काव्य में संगीत दूसरा प्रधान तत्त्व है, किन्तु यह संगीत बाह्य कम और आन्तरिक अधिक होता है । प्रगीत-काव्य की भाषा सरल, सरस, सुकुमार और मधुर होनी चाहिए । अपरिचित और मनगढन्त शब्दों का प्रयोग तथा अनप्रास और दार्शनिक शब्दों की भरमार गीति-काव्य में वर्जित है । शैली की दृष्टि से भी गीति-काव्य में सरलता तथा सुकुमारता होनी आवश्यक है । भावों की स्पष्टता, भाषा और विषय का तथा विषय और भाव का सामञ्जस्य गीति-काव्य की प्रभावोत्पादकता और पूर्णता के लिए आवश्यक है । साहित्यिक संक्षेप का सर्वाधिक प्रयोग गीति-काव्य में ही होता है, क्योंकि भाव तथा संगीत में तीव्रता उत्पन्न करने के लिए विस्तार की कमी अनिवार्य है ।

उपर्युक्त तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए सुश्री महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है :

“सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।”^१

प्रगीत-काव्य का मुख्य रूप गीत ही है।

१७. प्रगीत-काव्य का वर्गीकरण

वर्गीकरण के आधार की विविधता के कारण गीति-काव्य के भी विभिन्न भेद हो सकते हैं। जातीय या राष्ट्रीय आधार को ग्रहण करते हुए हम प्रगीत-काव्य को अंग्रेजी गीति-काव्य, भारतीय गीति-काव्य तथा फ्रेञ्च गीति-काव्य आदि के रूप में विभाजित कर सकते हैं और भाषा के आधार पर हिन्दी गीति-काव्य, मराठी गीति-काव्य, उर्दू गीति-काव्य इत्यादि के रूप में। मानसिक, बौद्धिक तथा आकार के आधार पर गीति-काव्य भावात्मक, रागात्मक, विचारात्मक तथा कल्पनात्मक इत्यादि अनेक रूपों में विभाजित हो सकते हैं। अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र में गीति-काव्य के विविध रूपों का बहुत सूक्ष्म वर्गीकरण किया गया है, किन्तु हिन्दी गीति-काव्य के लिए उसे उसी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः आकार और वृत्ति (मूड) के अनुसार किया गया वर्गीकरण ही युक्ति-संगत और वैज्ञानिक हो सकता है। व्यावहारिक सुविधा के लिए हम गीति-काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—(१) प्रेम-गीत, (२) व्यंग्य-गीत, (३) धार्मिक गीत, (४) शोक-गीत, (५) युद्ध-गीत, (६) वीर-गीत, (७) नृत्य-गीत, (८) सामाजिक गीत, (९) उपालम्भ-गीत, (१०) गीति-नाट्य, (११) सम्बोधन-गीत तथा (१२) सानेट-चतुर्दश पदी गीत इत्यादि।

१. प्रेम-गीत—प्रेम-गीत में प्रेम के दोनो पक्ष—संयोग और वियोग—सम्मिलित हैं। प्रेम-गीत ही सम्भवतः गीति-काव्य का सर्वाधिक प्राचीन रूप है, क्योंकि विरह-पक्ष ही तो कविता का जन्मदाता है। विश्व का प्राचीन साहित्य प्रेम-गीतों में ही उपलब्ध है। ‘रामायण’ तथा ‘मेघदूत’ आदि में अनेक सुन्दर गीत प्राप्त हो जाते हैं, यद्यपि इन गीतों में इतिवृत्त की प्रधानता है। विद्यापति, जयदेव, सूरदास, घनानन्द (सवैये भी गेय होने के कारण गीति-काव्य के अन्तर्गत ही गृहीत किये जा सकते हैं), रसखान, आलम तथा देव और आधु-

निक युग में हरिश्चन्द्र, प्रसाद, पन्त, निराला, बच्चन एवं अंचल आदि ने उत्कृष्ट प्रेम-गीत लिखे हैं।

२. व्यंग्य-गीत—व्यंग्य-गीत (Satire) साहित्य और जाति की सजीवता के परिचायक होते हैं। हिन्दी-साहित्य की अधिकांश राजनीतिक परिस्थितियाँ दासतापूर्ण रहती हैं, इसी कारण इसमें व्यंग्य-गीत का समुचित विकास नहीं हो सका। सूरदास के गीतों में व्यंग्य की मात्रा अवश्य मौजूद है। कबीर की अनेक व्यंग्य-प्रधान उक्तियाँ तो बहुत सजीव हैं। एक गंगा-स्नान को जाने वाली स्त्री पर कसी गई कटूक्ति :

“चलो हँ कुल बोरनी गंगा नहाय।

सतुआ बराहन बहुरी भुजाइन घंघट ओट मसकत जाय।

महरी बाँधिन मोठरी बाँधिन, खसम के दूँडे दिहिन धराय ॥”

तुलसीदास जी ने ‘परशुराम-लक्ष्मण-संवाद’ तथा ‘अंगद-रावण-संवाद’ में अपनी व्यंग्य-शक्ति का बहुत सुन्दर परिचय दिया है। आधुनिक युग में व्यंग्य-प्रधान गीत-लेखकों में निराला सर्वश्रेष्ठ हैं।

३. धार्मिक गीत—धार्मिक गीतों का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। उत्सवों या संस्कारों के समय गाये जाने वाले गीत आध्यात्मिक विरह-मिलन के तथा रहस्यवादी गीतों के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं। उत्सव तथा यज्ञ आदि से सम्बन्धित शुद्ध धार्मिक गीत लोक-गीत के ही अंग हैं। आध्यात्मिक विरह-मिलन से सम्बन्धित तथा रहस्यवादी गीत साहित्यिक गीतों के अन्तर्गत गृहीत किये जा सकते हैं। कबीर, दादू तथा सुन्दरदास आदि ने बहुत सुन्दर आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीतों की रचना की है। आधुनिक युग में लिखे गए महादेवी तथा प्रसाद के एतद्विषयक गीत हिन्दी की अमूल्य निधि हैं।

४. शोक-गीत—शोक-गीत को अंग्रेजी में एलिजी (Elegy) कहते हैं, हिन्दी में इसका प्रचलन अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप हो हुआ है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में गीति-काव्य का इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं। शोक-गीत के वैयक्तिक प्रेम, विरह, निराशा, मानसिक क्षोभ और देश तथा जाति का हास इत्यादि अनेक विषय हो सकते हैं। कर्ण रस की इसमें प्रधानता होती है। देश के नेताओं की मृत्यु पर अथवा अपने किसी परम प्रिय के निधन पर लिखी हुई कविताएँ शोक-गीत के अन्तर्गत ही गृहीत की जाती हैं। भाव तथा

हादिक अनुभूति शोक-गीत के प्राण हैं ।

हिन्दी-साहित्य में शोक-गीत की परम्परा बहुत पुरानी नहीं, इन गीतों का समुचित विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। एक दृष्टि से तो घनानन्द 'त्यादि कुछ प्रम-मार्गी कवियों के आत्म-पीड़ा-प्रधान सवैये शोक-गीतों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। किन्तु अग्रेजी ढंग के शोक-गीत आधुनिक युग की देन हैं। गांधीजी की मृत्यु पर अनेक शोक-गीत लिखे गए हैं। लोकमान्य तिलक, मालवीयजी तथा अन्य नेताओं की स्मृति में लिखे गए गीत भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आयेंगे। भारतेन्दु तथा गुप्तजी की राष्ट्रीय कविताएँ शोकोच्छ्वास से पूर्ण हैं। आधुनिक निराशामय वातावरण में अनेक शोक-गीत लिखे गए हैं, किन्तु इनमें गीति-तत्त्व का अभाव है। प्रसाद जी की "आह ! वेदना मिली बिदाई" कविता शोक-गीत का बहुत सुन्दर उदाहरण हो सकती है।

५. युद्ध-गीत और ६. वीर-गीत—युद्ध-गीत और वीर-गीत (Ballads) वस्तुतः एक ही चीज है। वीर-गीतों में कथा-तत्त्व भी विद्यमान रहता है। वीर-पूजन की भावना से वीर-गीत का प्रारम्भ माना जाता है। मानव-समाज में आदि-काल से ही वीर-पूजन की भावना विद्यमान रही है, अतः वीर-गीतों का इतिहास बहुत प्राचीन है। 'रामायण', 'इलियड', तथा 'ओडेसी' आदि प्राचीन महाकाव्यों का विकास वीर-गीतों से हुआ है, और उनके मूल में वीर-पूजन की भावना ही विद्यमान है। वीर-गीत की भाषा अोजपूर्ण होना चाहिए। अनेक बार युद्धों का कारण स्त्रियाँ होती हैं, जहाँ नहीं होती वहाँ कवि उसकी कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार वीर-गीतों में शृङ्गार का पुट भी रहता है। गायक द्वारा गीतों में वर्णित हाव-भाव के अनुकरण में वीर-गीतों में नाटकीय तत्वों का भी समावेश हो गया है। आधुनिक समय में वीर-गीत का परिष्कृत रूप राष्ट्रीय गीत है, किन्तु वे वृत्ति और प्रकृति में परिवर्तित होकर स्वतन्त्र रूप धारण कर चुके हैं।

वीर-गीत का रूप बहुत प्राचीन है, हिन्दी-काव्य के आदि-काल में वीर-गीतों की ही प्रधानता है। आल्हा-ऊदल के चरित्र का वर्णन, वीर-गीतों के रूप में ही हुआ है। 'आल्हा-खण्ड' वस्तुतः वीर-गीतों (Ballads) का ही संग्रह है। आधुनिक युग में भी उत्कृष्ट वीर-गीत लिखे गए हैं, निरालाजी की 'यमुना के प्रति', दिनकर जी की 'हिमालय के प्रति' तथा सुभद्राकुमारी चौहान की 'भाँसी

की रानी' आदि कविताएँ अच्छे वीर-गीत हैं।

७. नृत्य-गीत—नृत्य-गीत का विकास लोक-गीतों (Folk songs) के रूप में हुआ है। ये प्रायः सामूहिक रूप में गाए जाते हैं, इन्हें कोरस भी कह सकते हैं। हिन्दी में नृत्य-गीतों का अभाव है।

८. सामाजिक गीत—सामाजिक गीतों में समाज की रूढ़ि-ग्रस्त व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना होती है। इनमें व्यंग्य की प्रधानता रहती है। कहीं-कहीं कवि अपने गीतों द्वारा पाठको तथा श्रोताओं को समाज-सुधार के लिए विशेष रूप से प्रेरित करता है।

९. उपालम्भ-गीत—उपालम्भ-गीत विरह में प्रिय की निष्ठुरता के स्मरण से उत्पन्न होते हैं। प्रिय का उपेक्षा-भाव हृदय को संतप्त कर देता है, और तभी कोमल उलाहनों से युक्त गीत की सर्जना की जाती है। व्यथा, पीड़ा, विषाद और व्यंग्य उपालम्भ-गीत के प्राण हैं। हिन्दी-साहित्य में सूरदास के उपालम्भ अपनी मार्मिकता के कारण विशेष विख्यात हैं। 'अमर गीत' तो मानो उपालम्भ-काव्य ही है।

सूरदास का-सा मृदुल उपालम्भ अन्यत्र दुर्लभ है। कविरत्न पंडित सत्य-नारायण का 'भयो क्यों अनचाहत को संग?' नामक गीत उपालम्भ-गीत का उत्कृष्ट उदाहरण है।

१०. गीति-नाट्य—गीति-नाट्य नाटकीय प्रणाली पर आधारित गीति-काव्य है। कवि अपनी अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न पात्रों द्वारा कराता है। गीति-काव्य का यह एक उत्कृष्ट कलात्मक रूप है, केवल सिद्ध-हस्त कवि ही इसमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। प्रसाद जी का 'करुणालय' तथा 'महाराणा का महत्त्व', निराला का 'पंचवटी-प्रसंग', भगवतीचरण वर्मा का 'तारा', तथा उदयशंकर भट्ट का 'मत्स्यगन्धा', 'राधा', और 'विश्वमित्र' उत्कृष्ट गीति-नाट्य हैं।

११. सम्बोधन-गीत—सम्बोधन-गीत (Ode) का प्रचलन भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध है। 'मेघदूत' में यक्ष मेघ को सम्बोधित करके अपनी अवस्था का वर्णन करता है। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में भी कभी किसी दूती या दूत अथवा पक्षी को सम्बोधित करके कहे गए गीत प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु उनमें अन्योक्ति की प्रधानता रहती है, आधुनिक ढंग के सम्बोधन-गीतों का प्रचलन

अंग्रेजी साहित्य के ओड्स (Odes) के अनुकरण पर हुआ है। सम्बोधन-गात में किसी वस्तु विशेष—भाव, विचार, युग, प्राकृतिक दृश्य अथवा किसी भी वस्तु—को सम्बोधित करके कवि अपनी भावनाओं, अनुभूतियों तथा विचारों को अभिव्यक्त करता है। शैली की उत्कृष्टता, भावों का उल्लास तथा अक्षुण्ण चमत्कार सम्बोधन-गीत की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

आज हिन्दी-साहित्य में अनेक सम्बोधन-गीत लिखे जा रहे हैं। निराला की 'यमुना के प्रति', भगवतीचरण वर्मा की 'हिन्दू', 'नव वधू', 'नूरजहाँ' और पन्त की 'छाया' इत्यादि कविताएँ सम्बोधन-गीत के सफल उदाहरण हैं।

१२. सानेट—सानेट (Sonnet) को हिन्दी में चतुर्दश पदी गीत कहते हैं। हिन्दी-साहित्य में इसका प्रचलन अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से ही हुआ है, किन्तु हिन्दी की प्रकृति के विपरीत होने के कारण इसका अधिक प्रचार नहीं हो सका।

अन्य प्रकार—इन भदों के अतिरिक्त आजकल राष्ट्रीय गीतों की भी रचना हो रही है। प्राचीन काल में वीर-गीत ही रचे जाते थे, किन्तु आज धीरे-धीरे राष्ट्रीय गीत वीर-गीतों का स्थान ले रहे हैं। राष्ट्रीय गीतों में जातीय ओज, गर्व तथा शालीनता की अभिव्यक्ति होती है। उनमें देश के प्रति गौरव, प्रेम तथा सम्मान की भावना को उत्पन्न किया जाता है। पराधीनता के कारण हिन्दी के राष्ट्रीय गीतों में देश की वर्तमान दुःख-दैन्यपूर्ण अवस्था के वर्णन के साथ अतीत के गौरव की याद बराबर दिलाई जाती है। राष्ट्रीय तथा जातीय जागरण की भावनाओं से पूर्ण गीत भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत गृहीत किये जाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त तथा निराला आदि ने राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण अनेक सुन्दर गीत लिखे हैं।

मातृभूमि की वन्दना में लिखे गए पाठकजी, गुप्तजी तथा दिनकरजी इत्यादि के गीत बहुत सुन्दर, सरस तथा ओजपूर्ण हैं।

उपदेशात्मक (Diadactive) गीत भी लिखे जाते हैं। उपदेश अथवा शिक्षा की प्रधानता इन गीतों की प्रमुख विशेषता होती है। तुलसी, सूर, कबीर, सुन्दर तथा नानक इत्यादि कवियों के अनेक गीत उपदेश-प्रधान हैं। आधुनिक युग में बा० मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔधजी तथा पाठकजी इत्यादि कवियों ने इसी श्रेणी के बहुत-से गीत लिखे हैं। विचार-प्रधान गीत प्रसाद, पन्त तथा

निराला द्वारा लिखे गए हैं। पन्तजी के 'गुञ्जन' तथा 'युगवाणी' के अनेक गीत विचारात्मक (Reflective) हैं।

१८. लोक-गीत तथा साहित्यिक गीत

उपर्युक्त गीत दो विभिन्न श्रेणियों—लोक-गीत और साहित्यिक गीत—के अन्तर्गत रखे जाते हैं। वस्तुतः लोक-गीत का विकसित रूप ही साहित्यिक गीत है। लोक-गीत जन-साधारण के जीवन के सन्निकट होते हैं, और उनमें मानव-जीवन की वासना, प्रेम, घृणा, लालसा तथा उल्लास-विषाद आदि विषयक उन प्रारम्भिक अनुभूतियों का चित्रण होता है जो कि सामाजिक शिष्टाचार से ऊपर नहीं उठ पातीं। वर्णन-सम्बन्धी कृत्रिमता—शैली इत्यादि—से वह सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं। साहित्यिक रूढ़ियों तथा प्रतिबन्धों से रहित होने के कारण तथा मानव-मात्र की स्वाभाविक और सहज अनुभूतियों के निकट होने के कारण भावों, अनुभूतियों और जीवन का जो शुद्ध और यथार्थ रूप अपनी सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ लोक-गीत में प्रकट होता है, वह साहित्यिक गीत में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। लोक-गीत वस्तुतः उस मानव-संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो कि नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं। शिष्ट, मर्यादित और कलात्मक गीत समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत है। इसीलिए लोक-गीत किसी भी देश की जन-संस्कृति, विचार-धारा और चिन्तन-पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक हो सकते हैं।

लोक-गीत को अंग्रेजी में फोक सोंग (Folk song) कहा जाता है, और साहित्यिक प्रगीत को लिरिक (Lyric)। लोक-गीत और साहित्यिक गीत की जीवन के क्रमशः शैशव और यौवन से तुलना की जा सकती है। यदि लोक-गीत शैशव है तो साहित्यिक गीत यौवन। जिस प्रकार शैशव का विकास यौवन है, उसी प्रकार लोक-गीत का विकास साहित्यिक गीत है। दोनों का अन्तर स्पष्ट है, किन्तु दोनों में साम्य भी अवश्य है। लोक-गीत का लेखक अपने व्यक्तित्व को सामाजिकता में तिरोहित कर देता है, किन्तु उसका निजीपन इसमें विलुप्त नहीं हो पाता। उत्सव तथा सस्कार आदि के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों के अतिरिक्त चक्की पीसते समय, चर्खा कातते समय तथा धान कूटते समय भी जो गीत गाये जाते हैं, उनमें भी हृदय का उत्साह और मनोरंजन की भावना

निरन्तर विद्यमान रहती है। लोक-गीत का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से होता है, प्रेम, विरह, भाई-बहन का स्नेह, ऋतु, पर्व, उत्सव तथा सास-ससुर का बर्ताव इत्यादि इसके अनेक विषय हो सकते हैं। लोक-गीतों में स्त्रैण भावना की अधिकता होती है, साहित्यिक गीतों में पौरुष की। लोक-गीत सामाजिक जीवन के निकट होते हैं, उनका प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत होता है; साहित्यिक गीत विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित होते हैं और उनका प्रभाव-क्षेत्र संकुचित होता है। साहित्यिक गीतों में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, यद्यपि लोक-गीत का जन्म भी वैयक्तिक अनुभूतियों से ही हुआ है तथापि उसमें कवि का व्यक्तित्व सामाजिक सत्ता में ही समाविष्ट हो जाता है।

प्रेम, सयोग-वियोग, विवाह, वधू की विदाई इत्यादि विषयक अनेक सुन्दर लोक-गीत प्रचलित हैं। सुहाग-रात की दीर्घता के लिए की गई इस अभ्यर्थना की मार्मिकता देखिए :

“आजु सुहाग के रात चन्दा तुम उइहौ ।

चन्दा तुम उइहौ मुरुज मति उइहौ ॥

मोर हिरदा बिरस जनि किहेउ मुरुज मति बोलेउ ।

मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तु पह जनि फाटेउ ॥

आजु करहु बड़ि राति चन्दा तुम उइहौ ।

धीरे-धीरे चल मोरा मुरुज बिलम करि अइहौ ॥

युवती के हार्दिक उत्साह का यह बहुत सुन्दर चित्रण है।

साहित्यिक गीतों का रूप और वृत्ति के अनुसार हम पीछे वर्गीकरण कर आए हैं, और उनके रूप पर भी विचार कर चुके हैं। हिन्दी के गीतों में संवेदना की प्रधानता है, कथाश्रित गीतों की रचना कम ही होती है।

चार : उपन्यास

१. उपन्यास का प्रादुर्भाव

साहित्यिक जगत् में उपन्यास के प्रादुर्भाव से पूर्व हमारे मनोरंजन के साधन केवल नाटक और कविता थे । किन्तु इधर नवयुग में हमारे साहित्य में उपन्यासों और कहानियों का ही राज्य है । आधुनिक युग में साहित्य के विभिन्न अंगों में से उपन्यास को जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, उतनी अन्य किसी को नहीं । बड़े-बड़े कलाकार भी आख्यायिका, उपन्यास तथा गल्प-रचना करके जीवन की गम्भीर समस्याओं पर विचार करते हुए साहित्य के इसी अंग द्वारा यश प्राप्त करते हैं । साहित्य-जगत् में उपन्यास का प्रादुर्भाव क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है ।

उपन्यास की इस लोकप्रियता के अनेक कारण हैं । आज के वैज्ञानिक युग में देशों की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत परिवर्तित हो चुकी हैं । सामन्ती युग में हमारे मनोरंजन और रसानुभूति का साधन नाटक थे । उनसे शिक्षित और अशिक्षित वर्ग दोनों ही समान रूप से आनन्द प्राप्त कर सकते थे । किन्तु धीरे-धीरे अभिनय-कला के प्रति लोगों में अश्रद्धा की भावना फैल गई और नाटकों की लोकप्रियता विलुप्त होने लगी । उन दिनों नाटकों के अभिनय की व्यवस्था बहुत व्यय और परिश्रम-साध्य थी, जिसके लिए जन-साधारण के आर्थिक साधन अनुपयुक्त थे । अतः नाटक केवल-मात्र समृद्ध वर्ग के मनोरंजन का साधन ही रहे । इधर प्रजातन्त्र के विकास के साथ जन-साधारण में शिक्षा का प्रचार हुआ और उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए उपन्यास और आख्यायिका का आश्रय ग्रहण किया । नाटक तथा कविता में आनन्दोपलब्धि में जिस रागात्मकता और परिपुष्ट कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका जन-साधारण में अभाव है । उपन्यास हमारी कल्पना-शक्ति के लिए दुरुह नहीं, उसके लिए विशिष्ट बौद्धिकता की भी आवश्यकता नहीं । इसी कारण उनकी लोकप्रियता तीव्र गति से बढ़ी ।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं ग्रहण करना चाहिए कि उपन्यास कविता अथवा नाटक की अपेक्षा कलात्मक दृष्टि से हीन हैं । वस्तुतः ऐसी बात नहीं । कविता और नाटक की भाँति उपन्यास भी मानव-मन की आन्तरिक अनुभूति,

कोमलतम कल्पना और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति से युक्त होकर साहित्य में श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है । आज के उपन्यासों की प्रभावोत्पादक शक्ति के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता । यूरोप में उपन्यासकारों ने अपने क्रान्तिकारी विचारों द्वारा व्यक्ति, समाज, धर्म, प्रेम और आचरण-विषयक मनुष्य की परम्परागत धारणाओं पर गहरी चोट की है । फ्रांस के उपन्यासकारों ने फ्रांस की घुन लगी सामाजिक व्यवस्था को खोखला करके मनुष्य की भाव-धाराओं में परिवर्तन के द्वारा भीषण क्रान्तिकारी आन्दोलनों को जन्म दिया । यूरोप में ही नहीं हमारे यहाँ भी मुन्शी प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय तथा यशपाल इत्यादि कलाकारों ने घृणित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रति असन्तोष और क्रान्ति की भावना को उत्पन्न किया ।

आधुनिक युग के उपन्यासों में मनोरंजक सामग्री की अपेक्षा मानसिक विश्लेषण और सामाजिक निरीक्षण की मात्रा अधिक है । वस्तुतः अत्याधुनिक उपन्यास सामाजिक समस्याओं के विशद विवेचन के कारण केवल समाज-शास्त्र के ग्रन्थ-मात्र (Sociological treatises) ही बनकर रह गए हैं । यूरोप के अनेक प्रसिद्धि-प्राप्त उपन्यासकारों ने मनुष्य के चरित्र के खोखलेपन को प्रदर्शित करने के लिए ही उपन्यास रचे हैं । हमारे यहाँ ऐसे उपन्यास नहीं हैं, हाँ, मनोविज्ञान के नवीन अनुभवों और प्रयोगों का पूर्ण उपयोग किये जाने का यथेष्ट प्रयत्न किया जा रहा है । जहाँ प्रारम्भ में उपन्यासों की रचना केवल मनोरंजन के लिए हो की जाती थी, वहाँ आज व्यक्ति, समाज और उनकी बौद्धिक तथा नैतिक धारणाओं के विश्लेषण के लिए ही उनकी रचना हो रही है ।

आधुनिक युग में उपन्यास अपनी प्रभावोत्पादकता और लोकप्रियता की दृष्टि से साहित्य का सर्वाधिक जीवन-सम्पन्न और महत्वपूर्ण अंग है ।

✓ २. उपन्यास शब्द की व्याख्या और परिभाषा

संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में उपन्यास शब्द प्राप्य है, किन्तु जिस विस्तृत अर्थ में आज इस शब्द का प्रयोग हो रहा है, वैसा प्राचीन ग्रन्थों में नहीं । 'नाट्य-शास्त्र' में वर्णित प्रतिमुख संधि का एक उपभेद है उपन्यास । इस ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

“उपपत्तिकृतोद्दयः उपन्यासः संकीर्तितः ।”

अर्थात् किसी अर्थ को उसके युक्तियुक्त अर्थ में प्रस्तुत करने को ही

उपन्यास कहा जाता है। अन्यत्र कहा गया है : 'उपन्यासः प्रसादनम्' अर्थात् प्रसन्नता-प्रदायक कृति को उपन्यास कहते हैं। आज उपन्यास शब्द के अन्तर्गत गद्य द्वारा अभिव्यक्त सम्पूर्ण कल्पना-प्रसूत कथा-साहित्य गृहीत किया जाता है, अतः प्राचीन काल के उपन्यास शब्द में तथा आज के उपन्यास शब्द में केवल-मात्र नाम की ही समानता है।

उपन्यास-सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "मे उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय जीवन की विभिन्न पेचीदगियों का विचार रखते हुए, रस-सिद्धान्त के अनुसार उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : "उपन्यास कार्य-कारण-शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।" डॉक्टर श्यामसुन्दरदास के दृष्टिकोण के अनुसार उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।

वस्तुतः उपन्यास मानव-जीवन की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों का, उसके मन के संघर्ष-विघर्ष का, उसके चारों ओर के वातावरण और समाज का एक काल्पनिक कथा-चित्र है। किन्तु काल्पनिक होता हुआ भी वह यथार्थ है, उसमें जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति होती है। पर वह जीवनी नहीं। क्योंकि जीवनी में इतिहास की भाँति घटनाओं का एक निश्चित क्रम होता है, उसमें तिथियों और यथार्थ समस्याओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। वस्तुतः जीवनीकार कल्पना की अपेक्षा यथार्थ को अधिक महत्त्व देता है, वह कथा कहने की अपेक्षा तथ्य-कथन को अधिक पसन्द करता है। किन्तु उपन्यास में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं, वह घटनाओं और तिथियों से अपने-आपको नहीं बाँधता। कल्पना का आश्रय लेकर वह अपनी कथा को रोचक बनाने के लिए वस्तु, व्यक्ति तथा वातावरण को सुन्दर तथा मूर्तिमान बना देता है। उपन्यासकार मानव-जीवन की मीमांसा करता है, वह मानव-मन के अन्तर्गत में प्रविष्ट होकर

उसकी आन्तरिक अनुभूतियों का विश्लेषण करता है, उपन्यासकार अपने उपन्यास में व्यक्ति के विकास में सहायक सम्पूर्ण वातावरण, समाज और देश-काल का चित्रण करता है। जीवनीकार का उद्देश्य भी व्यक्तित्व का विश्लेषण है। किन्तु उपन्यास में काव्यत्व होता है, कल्पना द्वारा उपन्यास में सत्य तथा सुन्दर जीवन के दार्शनिक तत्त्वों को रोचक ढंग से उपस्थित किया जाता है, जब कि जीवनी में वास्तविक जीवन के अनुरूप तथ्य-निरूपण की प्रवृत्ति रहती है। पर उपन्यास जीवन के यथार्थ से पृथक् नहीं हो सकता। यदि वह जीवन से दूर हटकर केवल-मात्र कल्पना-लोक की वस्तु बन जायगा, तो वह साहित्य के अन्तर्गत गृहीत न किया जाकर गप्प ही समझा जायगा। उपन्यास में कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए, यद्यपि कथा में गृहीत घटना का प्रकृत होना आवश्यक नहीं, किन्तु उसका प्रकृत रूप सम्भाव्य अवश्य होना चाहिए।

उपन्यास वस्तुतः इतिहास, जीवनी और कविता के बीच की वस्तु है। उसमें जहाँ कथा के साथ जीवनी के सदृश व्यक्तित्व-विश्लेषण और इतिहास के सदृश घटनाओं का चित्रण होता है, वहाँ दूसरी ओर उपन्यास में कविता की कल्पना, भावों की पुष्टता, शैली का सौन्दर्य और रोचकता भी वर्तमान रहती है।

३. उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के निर्माण में विभिन्न तत्त्व कार्य करते हैं जिनका विवेचन आगे किया जायगा। सर्वप्रथम उपन्यास में घटनाएँ होती हैं, जो कि उपन्यास के शरीर का निर्माण करती हैं। यही घटनाएँ उपन्यास के जिस अंश में सम्पादित की जाती हैं, उन्हें कथावस्तु कहते हैं। यह कथावस्तु और घटनाएँ मनुष्यों पर प्राश्रित होती हैं, यही मनुष्य पात्र कहलाते हैं। इन पात्रों की पारस्परिक बात-चीत वार्तालाप या कथोपकथन कहलाती है। पात्रों के आस-पास की परिस्थितियाँ, वातावरण, देश-काल इत्यादि का वर्णन वातावरण में किया जाता है। सम्पूर्ण पात्र तथा कथावस्तु किसी विशिष्ट उद्देश्य या विचार की अभिव्यक्ति करते हैं, उनका सृजन किसी विशेष आदर्श को लेकर किया जाता है, यही आदर्श-निरूपण उपन्यास का पाँचवाँ तत्त्व उद्देश्य होता है। उपन्यास-वर्णन की एक विशिष्ट पद्धति होती है, जो कि शैली कहलाती है। इस प्रकार उपन्यास के निर्माण में ये मुख्य तत्त्व सहायक हैं—कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश, काल और वातावरण, उद्देश्य तथा शैली।

कथावस्तु—यदि हम कहें कि कथावस्तु (Plot) का उपन्यास में वही स्थान है जो कि शरीर में हड्डियो का; तो इसमें कोई अत्यावृत्त न होगी। सुप्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक एडविन म्योर का कथन है कि उपन्यास-कला में प्रयुक्त होने वाले साधनों में कथानक ही सर्वमान्य और अधिक स्पष्ट है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि उपन्यास या कथा का सम्पूर्ण ढाँचा कथानक के आधार पर ही खड़ा होता है। यद्यपि आज उपन्यास में कथानक को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, और न ही उसे उपन्यास की उत्कृष्टता तथा पूर्णता के लिए आवश्यक माना जाता है। क्योंकि उनका यह विचार है कि जीवन बिखरी हुई असम्बद्ध घटनाओं का नाम है, अतः उन बिखरी हुई घटनाओं को एक सम्बन्धित कथा-सूत्र में बाँधना अप्राकृतिक और अस्वाभाविक है; परन्तु यह विचार न तो युक्तियुक्त ही है और न संगत ही। उपन्यास में घटना-क्रम या कथानक आवश्यक है, असम्बद्ध तथा विशृंखल घटना-क्रम के फलस्वरूप न तो कथा में प्रवाह ही होता है और न रस। मानव-जीवन गतिशील है, उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इस परिवर्तन और गति के कारण ही वह जीवित कहा जाता है। यदि उसमें गतिशीलता न रहे तो वह जड़ और मृत समझा जायगा। मानव-जीवन की इस गतिशीलता को घटनामय जीवन कहा जाता है, और यही घटनामय जीवन उपन्यास की कथावस्तु होता है। वस्तुतः कथावस्तु उपन्यास में वर्णित घटनाओं का वह सग्रह है जिस पर कि उपन्यास का ढाँचा खड़ा होता है, जिसके द्वारा उपन्यासकार के विचार सामूहिक रूप में अभिव्यक्त होते हैं। एडविन म्योर के कथनानुसार शृंखलाबद्ध घटनाएँ और वह आधार, जिसके द्वारा वे सम्मिलित की जाती हैं, कथानक है।

उपन्यासकार अपने कथानक का चुनाव इतिहास, पुराण या जीवनी किसी भी क्षेत्र से कर सकता है। किन्तु कथानक के कौशलपूर्ण उचित चुनाव में ही लेखक की सफलता निहित है। जिस किसी भी विषय का वह चुनाव करे उस विषय से उसका पूर्ण परिचय होना चाहिए। यदि वह पौराणिक काल के किसी कथानक का चुनाव करता है तो उस काल की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। किसी भी ऐतिहासिक कथानक के चुनाव के समय उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त तत्कालीन राजा, प्रजा, सैनिक और बड़े-बड़े अधिकारियों की रहन-सहन की स्थिति के अतिरिक्त

उनके जीवन-यापन के ढंग, उनके आमोद-प्रमोद के साधन तथा अन्य प्रकार की जीवन-सम्बन्धी सभी बातों का उपन्यासकार को पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। आज जीवन से सम्बन्धित कथावस्तु को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। क्योंकि उसमें हमारे दैनिक जीवन की स्वाभाविकता विद्यमान रहती है, जो कि अपने-आप में एक बहुत बड़े आकर्षण का हेतु है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों में सजीवता, रोचकता और आकर्षण उत्पन्न करने के लिए कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण कुछ विद्वानों का यह कथन है कि लेखक जिस विषय का स्वयं अनुभव प्राप्त न कर ले उस विषय पर उसे कुछ नहीं कहना चाहिए। जिस जीवन के विषय में वह लिखना चाहता है, उस विषय पर लिखने से पूर्व उसे सर्वप्रथम उसका अनुभव प्राप्त कर लेना चाहिए। यह बात सर्वाशतः ठीक है। किन्तु लेखक की कल्पना-शक्ति इतनी उर्वरा और उसकी प्रतिभा इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह अज्ञात वस्तुओं का भी उनके द्वारा सजीव चित्र प्रस्तुत कर सके। अनुभव से प्राप्त कथानक को भी सजीव और रंगीन बनाने के लिए लेखक को कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। आज तो यह एक नियम-सा ही बन गया है कि कथावस्तु चाहे सत्य हो या काल्पनिक, चाहे ऐतिहासिक हो या पौराणिक, वह हमारे दैनिक जीवन के आधार पर गढ़ी हुई होनी चाहिए। उनमें अलौकिक या अस्वाभाविक अंश का समावेश नहीं होना चाहिए, जैसा कि प्राचीन काल में होता था।

कथानक को व्यवस्थित करना उसकी दूसरी बड़ी आवश्यकता है। किसी भी कथानक के चुनाव के अनन्तर यह विचारणीय होता है कि इसमें कौन-सा अंश आवश्यक है और कौन-सा अनावश्यक। अनावश्यक अंश को छोड़ने के अनन्तर यह आवश्यक हो जाता है कि सम्पूर्ण कथानक को सुसम्बन्धित रूप में प्रस्तुत किया जाय।

रोचकता हमारे दृष्टिकोण में कथावस्तु की सर्व-प्रधान विशेषता है। जहाँ कथावस्तु अरोचक और नीरस है वहाँ उपन्यास उपन्यास नहीं रहेगा। उपन्यास पढ़न का सर्वप्रमुख उद्देश्य मनोरंजन है। यदि उपन्यास का कथानक हृदय में आनन्दोद्रेक के साथ उत्साह और शक्ति को उत्पन्न करता है तो निश्चय ही वह उपन्यास उच्चकोटि का उपन्यास कहलायगा। कथानक में रोचकता को उत्पन्न करने के लिए औत्सुक्य, कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। जिस

प्रकार हमारे जीवन में अनेक अप्रत्याशित और आकस्मिक घटनाएँ घट जाती हैं, उसी प्रकार घटनाओं का समावेश इस ढंग और परिस्थिति में होना चाहिए कि मूल कथा के प्रवाह में किसी प्रकार का भी स्खलन न हो। कौतूहल और औत्सुक्य के जागरण के लिए उपन्यास में असम्भव घटनाओं का समावेश नहीं होना चाहिए।

इस कारण सम्भाव्यता कथावस्तु की द्वितीय महत्त्वपूर्ण विशेषता स्वीकार की जा सकती है। इस बौद्धिकता के युग में मनुष्य असम्भव या अलौकिक बातों को स्वीकार नहीं कर सकता। प्राचीन काल के उपन्यासों में जिस प्रकार की दैवी या अलौकिक कथाओं की भरमार रहती थी, वैसी आज के उपन्यासों में सम्भव नहीं। उपन्यासकार को ऐसी बातों का कभी कथन नहीं करना चाहिए जिनका कि जीवन की वास्तविकता से विरोध हो।

कथानक कंसा हो—कथावस्तु का अध्ययन करते समय हमें यह अनुभव नहीं होना चाहिए कि अमुक बात छूट गई है, और अमुक बात का अनावश्यक रूप से समावेश किया गया है। कथावस्तु में वर्णित प्रत्येक घटना परस्पर सम्बन्धित हो, क्रमागत हो और उनमें सगति हो। वे सब शृङ्खलाबद्ध हों। अनेक उपन्यासों में दो मुख्य कथाएँ और अनेक गौण कथाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं, (जैसे मुन्शी प्रेमचन्द जी के 'गोदान' में) ऐसी अवस्था में कलाकार की कुशलता इसी में होती है कि वह सम्पूर्ण कथाओं और उपकथाओं को एक सूत्र में बाँधे रखे। कथावस्तु के संगठन के साथ-साथ उनमें स्वाभाविकता का भी विचार रखना चाहिए। क्योंकि अत्यधिक संगठित कथानक में कृत्रिमता आ जाती है। एक अच्छे कथानक की परीक्षा के लिए हमें उसमें निम्न लिखित प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने चाहिए—

१. कथानक का चुनाव जीवन के किस क्षेत्र से किया गया है? क्या कथानक ऐतिहासिक या पौराणिक है? यदि है, तो क्या उसमें तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का उचित चित्रण किया गया है?

२. कथानक में जिस जीवन, समाज और स्थिति का वर्णन किया गया है, क्या वह असम्भव तो नहीं? उसमें अस्वाभाविकता तो नहीं? क्या कथानक में अनावश्यक तत्वों का समावेश तो नहीं किया गया?

३. क्या कथावस्तु रोचक है? रोचकता को उत्पन्न करने के लिए उसमें

असम्भव और अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश तो नहीं किया गया ?

४. क्या कथावस्तु का घटना-क्रम संगठित, और क्रमपूर्वक विकसित होता है ? कोई घटना छूट तो नहीं जाती ? क्या मुख्य घटनाएँ छूट तो नहीं गईं ? गौण घटनाओं को अधिक महत्त्व तो नहीं दिया गया ? कथावस्तु की अन्तर्वर्णित घटनाओं से प्रतिकूलता न होकर सभी घटनाओं से समन्वय हो ।

५. क्या कथावस्तु मौलिक है ?

इन प्रश्नों का उत्तर यदि सन्तोषजनक हो तो समझना चाहिए कि कथावस्तु पूर्ण और उत्कृष्ट है ।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से कथावस्तु साहसिक, प्रेम-प्रधान, तिलस्मी, जासूसी ऐतिहासिक, पौराणिक और सामान्य जीवन से सम्बन्धित इत्यादि विभिन्न भागों में बट सकती है ।

कथावस्तु की दृष्टि से दो प्रकार के उपन्यास होते हैं, एक प्रकार में तो घटना-वर्णन सर्वथा असम्बन्धित होता है, वे एक-दूसरे पर आश्रित नहीं होती । किन्तु ये सम्पूर्ण घटनाएँ नायक से सम्बन्धित रहती हैं, वही इन सम्पूर्ण घटनाओं को शृङ्खलाबद्ध करने का साधन होती है । अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' इस प्रकार का उपन्यास है । इसमें चरित्र-चित्रण की मुख्यता है, और घटना-वल होता है, प्रत्येक आने वाली घटना पूर्व घटित घटना का परिणाम होती है । ये घटनाएँ सामूहिक रूप से इतनी सम्बन्धित होती हैं कि यदि उनमें से किसी एक को निकाल दिया जाय तो उपन्यास का सम्पूर्ण ढांचा लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा । इस प्रकार की कथावस्तु से युक्त उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास कहलाते हैं ।

उपन्यास में कथावस्तु रखने के तीन मुख्य ढंग हैं—

१. एक ढंग द्वारा उपन्यासकार एक तटस्थ दर्शक या इतिहासकार की भाँति कथा कहता है । ऐसी अवस्था में हम उपन्यासकार को कथा से सर्वथा पृथक् पाते हैं । इस प्रकार को वर्णनात्मक ढंग भी कहा जा सकता है । प्रेमचन्द जी के 'गोदान', वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुण्डार' तथा रवीन्द्रनाथ के 'नौका डूबी' इत्यादि उपन्यासों के कथानक इसी प्रकार के हैं ।

२. दूसरे ढंग द्वारा उपन्यास की कथा नायक के या किसी अन्य पात्र के मुख से कहलाई जाती है । इस प्रकार में अपनत्व अधिक रहता है

और पाठक स्वयं नायक के रंग में रँगकर कथावस्तु से आनन्द प्राप्त करता है। जौन्द जी का 'त्याग-पत्र', सियारामशरण गुप्त का 'अन्तिम आकांक्षा', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट का आत्मकथा' तथा शरच्चन्द्र का 'श्रीकान्त' इसी प्रकार के उपन्यास हैं। इनमें सम्पूर्ण कथा नायक स्वयं कहता है।

३ कथावस्तु के वर्णन का तीसरा ढंग पत्रों का है। इसमें सम्पूर्ण कथा पत्रों के रूप में कही जाती है। यह ढंग अधिक लोकप्रिय नहीं, क्योंकि इस ढंग द्वारा कथावस्तु के वर्णन में लेखक को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। वह न तो अपनी सम्पूर्ण सामग्रियों का ही उपयोग कर सकता है और न अपनी कुशलता का ही प्रदर्शन कर सकता है। 'समाज की वेदी पर' (अनूपलाल मण्डल) और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र) इसी प्रकार के उपन्यास हैं, इनमें कथावस्तु का वर्णन पत्रात्मक पणाली से किया गया है।

आज के उपन्यासों की कथावस्तु सरल, स्वाभाविक और आकर्षक होती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—आज के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता पात्रों का व्यक्तित्व और चरित्र-चित्रण है। कथा से पढ़कर हम उसे भुला देते हैं, किन्तु उन कथाओं के विशिष्ट पात्रों में कुछ ऐसे गुण होते हैं, उनका व्यक्तित्व कुछ इतना मधुर और प्रभावोत्पादक होता है कि हम उन्हें कभी भी नहीं भूल सकते। 'गोदान' का होरी, 'कायाकल्प' का चक्रधर, 'तितली' का मधुवन, 'अन्ना-केरिनिना' की अन्ना, 'दी गुड अर्थ' (The Good earth) का वांग लुङ्ग (Wang Lung) और 'ओ लान' तथा 'रोमा रोना' का जीन क्रिस्टोफ (Jean Christophe) ऐसे पात्र हैं, जिन्हें हम निश्चय ही भुलाने पर भी नहीं भूल सकते। उनका चरित्र, उनकी मूर्ति हमारे लिए कुछ इतनी परिचित-सी प्रतीत होती है कि हम यही अनुभव करते हैं कि जैसे हमें अपने जीवन में इनका साक्षात्कार हो चुका हो। उनके चरित्र हमारे लिए इतने परिचित और जाने-पहचाने होते हैं कि हम उन्हें अपने अन्तरंग मित्रों के सदृश अनुभव करने लगते हैं।

इस प्रकार कथावस्तु की स्वाभाविकता, सरलता और उत्कृष्टता ही किसी उपन्यास को बड़ा नहीं बना देती। यदि कोई उपन्यासकार हमारे सम्मुख ऐसे

चरित्रों को प्रस्तुत नहीं करता जो कि अपनी महत्ता से हमें प्रभावित नहीं करते, जो हमें उत्साहित और प्रेरित नहीं करते, अथवा जिन्हें हम सम्पूर्ण जीवन-भर भूल न सकें तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ उपन्यासकर नहीं। हम उसकी महत्ता पर विश्वास नहीं कर सकते। आत्मिक दृष्टि से महान् पात्रों की रचना करके वस्तुतः कलाकार अपनी महत्ता को स्थापित करता है। प्रत्येक कलाकार का अमर पात्र उसके अपने अमरत्व का द्योतक है।

चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत पात्रों के आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला जाता है। प्रत्येक पात्र साधारण मनुष्य होता है, अतः उसमें जहाँ दोष है वहाँ गुण भी है। आज का उपन्यासकार उसके मानसिक संघर्ष के प्रदर्शन के साथ, उसकी अनुदारता और उदारता, करुणा और नृशंसता इत्यादि अनेक परस्पर-विरोधी मानवीय मनोभावों को दिखाकर उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं और सबलताओं का प्रदर्शन करता है। जहाँ प्राचीन युग में कुछ पात्र दैवी गुणों से युक्त अलौकिक प्राणियों के रूप में चित्रित किये जाते थे, वहाँ दूसरी ओर कुछ पात्र सर्वथा राक्षस ही बना दिए जाते थे। किन्तु आधुनिक उपन्यासकार मानव के अन्तर्गत प्रविष्ट होकर उसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके यह सिद्ध कर रहा है कि राक्षस में भी देवत्व है, और देवताओं में भी आसुरी भावनाएँ वर्तमान हैं। वस्तुतः आज का उपन्यासकार मनुष्यों को ही चित्रित करता है; देवताओं को नहीं। उसका मुख्य उद्देश्य मानव की कमजोरियों के साथ उसकी सबलताओं का प्रदर्शन करना है।

इस परिवर्तन का मुख्य कारण आधुनिकतम मनोविज्ञान का क्रान्तिकारी अन्वेषण है। मनोविज्ञानिक विश्लेषण ने हमारी प्राचीन धारणाओं और जीवन-सम्बन्धी मान्यताओं को सर्वथा परिवर्तित कर दिया है। अतः सफल चरित्र-चित्रण के लिए आज के उपन्यासकार को मनोविज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक है। उसे विभिन्न श्रेणी के पात्रों की जहाँ मनोविज्ञानिक विवेचना करनी होती है वहाँ एक ही श्रेणी के विभिन्न पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों और उनके आन्तरिक संघर्ष-विघर्ष का स्पष्टीकरण करना होता है। इसमें ही लेखक का सफलता है और वह उसकी गम्भीरता की द्योतक है।

यद्यपि उपन्यास के पात्र उपन्यासकार के कल्पना-पुत्र होते हैं, वही उनका पालन-पोषण करके परिपुष्ट करता है, तथापि पात्र अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व

रखता है। उपन्यासकार उनकी सृष्टि करके उन्हें अपनी कठपुतली बनाकर उनके जीवन से खेल नहीं सकता, उन्हें अपने इशारों पर नचा नहीं सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो उसके पात्र निर्जीव कठपुतले बनकर पाठक के लिए आकर्षण-विहीन और ग्रहचक्र हो जायेंगे। सफल उपन्यासकारों के पात्र स्वतंत्र संकल्प-युक्त होते हैं, वे अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं, और अनेक बार लेखक की इच्छाओं के विपरीत भी कार्य कर जाते हैं।

वस्तुतः स्वतंत्र सकल-शक्ति-युक्त और निरंतर गतिशील (Dynamic) पात्र ही उपन्यास की शोभा और लेखक की सफलता के कारण होते हैं। चरित्र-चित्रण की अनेक प्रणालियाँ हैं। एक प्रणाली के अनुसार लेखक स्वयं वर्णन द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है, वह स्वयं उनके गुण-दोष का विवेचन और उनकी मनोवृत्तियों का अध्ययन करके अपना मत प्रकट करता है। चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली विश्लेषणात्मक या साक्षात् कहलाती है। कथावस्तु कहने के इतिहासिक ढंग में विश्लेषणात्मक प्रणाली से ही चरित्र-चित्रण किया जाता है। मुन्शी प्रेमचन्द के अधिकांश चरित्र साक्षात् प्रणाली से ही चित्रित किये गए हैं। 'रगभूमि' में सूरदास, जानसेवक आदि पात्रों के गुण-दोष मुन्शी जी स्वयं ही कह देते हैं। 'रगभूमि' में वर्णित उनका अत्यन्त सजीव सूरदास का चित्र देखिए।

सूरदास एक बहुत ही क्षीण काय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे देव ने कदाचित् भोख माँगने ही के लिए बनाया था। 'गोदान' में मिर्जा खुर्शेद का चरित्र विश्लेषणात्मक प्रणाली का एक सुन्दर उदाहरण है :

मिर्जा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य एक सादे कागज की भाँति थे। वह वर्तमान में रहते थे। न भूत का पछतावा था और न भविष्य की चिन्ता। जो-कुछ सामने आ जाता था उसमें जी-जान से लग जाते थे। मिर्जों की मण्डली में वह विनोद के पुतल थे। कौंसिल में उनसे ज्यादा उत्साही मेम्बर कोई न था। गुस्सेदार भी ऐसे थे कि ताल ठोककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत् करते थे, लेकिन जहाँ किसी ने शान दिखाई और यह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे न दूसरों का देना।

चरित्र-चित्रण की द्वितीय प्रणाली के अन्तर्गत लेखक पात्रों के विषय में अपने-आप कुछ नहीं कहता, वह पृथक् होकर खड़ा रहता है, और स्वयं पात्रों को ही या तो अपने चरित्र कहने देता है, या फिर पात्र एक दूसरे के चरित्र पर

टीका-टिप्पणी करके उन्हें स्पष्ट करते हैं। चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली साकेतिक या नाटकीय (Indirect or Dramatic) कहलाती है। इसमें दृश्य, घटना अथवा आस-पास की परिस्थितियों के वर्णन द्वारा पात्रों के चरित्र पर भी काफी प्रकाश डाला जा सकता है। अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण का एक उदाहरण देखिए जहाँ कि पात्र स्वयं अपने चरित्र पर प्रकाश डालता है। जैनेन्द्र जी के 'त्याग-पत्र' में सर एम० दयाल कहते हैं :

मे अपनी व्यर्थ प्रतिष्ठा के ढूँह पर बंठा हूँ। वह कृत्रिम है, क्षणिक है। हृदय वहाँ कहाँ है ? यज्ञ वहाँ कहाँ है ? लेकिन वही सब-कुछ मुझे ऊँचा उठाए हुए है। नामी वकील रहा, अब जब हूँ। लोगों को जेल, फाँसी देता हूँ। समाज में माननीय हूँ। हम सबके समाधान में चलो यही कहो, कि यह कर्म-फल है। लेकिन सच पूछो तो मेरा जी चाहता है कि वह कैसे कर्मों का फल है। कामयाब वकालत और इस जजी के इतने मोटे शरीर में क्या राई-जितनी भी आत्मा है ? मुझे इसमें कुछ संदेह है। मुझे मालूम होता है कि मैं अपने-आपको खो सका हूँ तभी सफल वकील और बड़ा जज बन सका हूँ।...

मेरा मन रह-रहकर त्रास से भर जाता है। समाज की जिस मान्यता पर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ, वह स्वयं किसके बलिदान पर खड़ी है, इस बात को जितना ही समझकर देखता हूँ उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानि से घिर जाता है। पर क्या करूँ ? सोचता हूँ, उस समाज की नींव को कुरेदने से क्या कुछ हाथ आयेगा ? नींव ढीली ही होगी और तेरे हाथ आने वाला कुछ नहीं है। यह सोच लेता हूँ और कह जाता हूँ।

पारस्परिक टीका-टिप्पणी कथोपकथन द्वारा होती है, अतः अभिनयात्मक प्रणाली में जब पात्र वार्तालाप करते हैं, और एक-दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं, तो जहाँ वे दूसरों के चरित्र को प्रकाशित करते हैं वहाँ वे स्वयं अपना चरित्र भी प्रकाशित कर देते हैं। एक उदाहरण में देखिए :

कनक०—हाँ अम्मा, मैं कला को कला की दृष्टि से देखती हूँ। उससे अर्थ-प्राप्ति करना क्या उसके महत्त्व को घटा देना नहीं ?

सर्वेद्वरी०—ठीक है, पर यह एक प्रकार का बदला है। अर्थ वाले अर्थ के जानकार उसका आनन्द उठाते हैं। संसार में एक-

दूसरे से ऐसा ही सम्बन्ध है ।

कनक०—कला के ज्ञान के साथ ही-साथ कुछ ऐसी गन्दगी भी हम लोगों के चरित्र में रहती है जिससे मुझे सख्त नफरत है ।^१

इन दोनों की बातें एक-दूसरे के चरित्र को प्रकाशित करती हैं । 'गोदान' में रायसाहब और खन्ना के वार्तालाप द्वारा महता के चरित्र को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है :

बोले०—यह महता कुछ अजीब आदमी हैं, मुझे तो कुछ बना हुआ-सा मालूम होता है ।

बोले०—मैं तो उन्हें केवल मनोरंजन की वस्तु समझता हूँ । कभी उनसे बहस नहीं करता । और करना भी चाहूँ तो इतनी विद्या कहाँ से लाऊँ जिसने जीवन के क्षेत्र में कमी कदम भी नहीं रखा वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धान्त अलापता है, तो मुझे उस पर हँसी आती है । 'मैंने सुना है चरित्र का अच्छा नहीं।' 'बेफित्री में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है ?' समाज में रहो और समाज के कर्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो तब पता चले ।

उपर्युक्त वार्तालाप में जहाँ महता के चरित्र को प्रकाशित किया जाता है, वहाँ रायसाहब और खन्ना का चरित्र भी स्वयं आभासित हो जाता है ।

कथावस्तु की आत्मकथात्मक और पत्रात्मक प्रणाली में चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली अधिक अपनाई जाती है । वर्तमान युग में सकेतात्मक चरित्र-चित्रण अधिक उपयुक्त और विज्ञानिक समझा जाता है । क्योंकि यदि लेखक प्रत्यक्ष रूप से अपने पात्रों के विषय में अपनी सम्मति दे, तो वह उचित नहीं समझा जाता । आज उचित यही समझा जाता है कि लेखक केवल पात्रों की आन्तरिक वृत्तियों का ही उल्लेख करे, और उनके मानसिक संघर्षों को चित्रित करके पात्रों के गुण-दोष-विवेचन का निर्णय पाठक पर छोड़ दे ।

मनुष्य के विचार उसकी चारित्रिक विशेषताओं के द्योतक होते हैं । उसके चरित्र के अनुरूप ही उसके विचार होंगे । अतः एकाकी अवस्था में प्रकट किये गए विचार भी चरित्र-चित्रण में सहायक होते हैं । आज के अनेक लेखक इसी शैली का उपयोग करते हैं । किन्तु इस शैली द्वारा चरित्र-चित्रण करने के लिए

^१ 'अप्सरा', निराला ।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन और अनुभव की विशेष आवश्यकता होती है। क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों में पढ़कर मनुष्य के विचारों में परिवर्तन होता रहता है, इस परिवर्तन का ज्ञान मनोविज्ञान से ही हो सकता है।

कथा-वस्तु में बहुत-सी उपकथाएँ मुख्य कथा के साथ रहती हैं, यद्यपि इन उपकथाओं का उद्देश्य मुख्य कथा के प्रवाह को गतिशील और तीव्र करना ही होता है, किन्तु ये चरित्र-चित्रण में भी सहायक होती हैं। घटनाओं और पात्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इनमें पढ़कर पात्रों की अनेक चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। अनेक घटनाएँ पाठकों की प्रवृत्तियों के अनुकूल होती हैं किन्तु बहुत-सी विपरीत भी होती हैं, अतः इन विपरीत परिस्थितियों में ही उनकी चारित्रिक विशेषताओं का प्रदर्शन होता है। घटना-प्रधान कथावस्तु में पात्रों का चरित्र घटनाओं द्वारा प्रकाशित होता है।

चरित्रों का वर्गीकरण—उपन्यासों में दो प्रकार के चरित्र होते हैं, एक तो किसी विशिष्ट श्रेणी (Class) या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और दूसरे स्वयं अपने आपका। जैसे 'गोदान' में होरी अपने आपका प्रतिनिधि न होकर एक विशिष्ट श्रेणी या वर्ग का प्रतिनिधि है। यह वर्ग या श्रेणी उन निरन्तर पिंसते हुए और शोषित होते हुए किसानों की है जो कि भारत के गावों में रहता है।

अपने आपका प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र, व्यक्तित्व-प्रधान होते हैं, और वे जन-साधारण से कुछ विलक्षण चारित्रिक विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं। शरत् का 'श्रीकान्त' और अज्ञेय का 'शेखर' ऐसे दो पात्र हैं जो कि अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के कारण सामान्य पात्रों से सर्वथा पृथक् होते हैं।

वस्तु और पात्र—साधारणतया वही उपन्यास श्रेष्ठ समझे जाते हैं जिनमें पात्रों की प्रधानता रहती है। क्योंकि कथावस्तु का प्रभाव सर्वथा अस्थायी होता है, और हम पढ़ने के अनन्तर उसे शीघ्र ही भुला देते हैं, किन्तु पात्रों का प्रभाव हमारे हृदय पर सर्वदा विद्यमान रहता है। उपन्यास वस्तुतः दो प्रकार के हैं, एक तो वे जिनमें पात्रों को प्रमुखता प्रदान की जाती है और कथावस्तु को गौण स्थान दिया जाता है, दूसरे वे हैं जिनमें पात्रों को अप्रमुखता और घटनाओं को प्रधानता दी जाती है। किन्तु वस्तु और एक पात्र एक-दूसरे से घनिष्ठतापूर्वक

सम्बन्धित है। क्योंकि यदि पात्रों को कथावस्तु से पृथक् चित्रित करने का प्रयत्न किया जायगा तो घटना-क्रम के अभाव में उनका चरित्र भली प्रकार से विकसित नहीं हो सकेगा। कथावस्तु को प्रमुखता प्रदान करते हुए भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि कथावस्तु का निर्माण पात्रों के कार्य-व्यापार द्वारा ही होता है। अतः उचित तो यही है कि कथावस्तु और पात्र परस्पर सम्बन्धित हों, और उपन्यास में चरित्र-चित्रण तथा वस्तु का सम्मिश्रण किया जाय। क्योंकि कथावस्तु और चरित्रों के समान विकास पर ही उपन्यास की सफलता निर्भर है।

यथार्थ और आदर्श—हम पहले लिख चुके हैं कि आज के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि लेखक को पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हुए उसे यथातथ्य रूप में, बिना काट-छाँट किये पाठकों के सामने रख देना चाहिए अथवा एक विशिष्ट उद्देश्य के पूर्ति के लिए उनमें कुछ परिवर्तन करके उन्हें चित्रित करना चाहिए? चरित्रों के ज्यों-के-त्यों चित्रण को ही यथार्थवाद कहा जाता है और उसको एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए परिवर्तित करके चित्रण करने को ही आदर्शवाद कहते हैं।

यथार्थवादी कलाकार मानवीय दुर्बलताओं, कुवासनाओं और दुश्चरित्रता या सच्चरित्रता को यथार्थ या नग्न रूप में प्रस्तुत कर देता है। यथार्थवादी उपन्यासकार के पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं को प्रदर्शित करते हुए निरुद्दिष्ट भाव से अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर जाते हैं। उनका मतलब अभिव्यक्ति और चरित्र-चित्रण मात्र से है। इस चित्रण का परिणाम समाज पर बुरा होता है या अच्छा, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं। इस कारण यथार्थवादी कलाकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है।

उसका नग्न यथार्थ तो मानव-जीवन को भयकर और भयावह बना देता है। निरन्तर मनुष्य की क्रूरताओं, दुर्बलताओं और विषमताओं का नग्न यथार्थ चित्रण मानव-जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण को अश्रद्धामय, विश्वास-शून्य और निराशावादी बना देता है। मनुष्य त्रुटियों और कमजोरियों का पुतला है, अतः केवल उसकी दुर्बलताओं का चित्रण उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यह ठीक है कि यथार्थवाद सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों के चित्रण में सहायक हो सकता है और उस चित्रण द्वारा उपन्यासकार जन-साधारण का

ध्यान उन कुरीतियों और बुराइयों की ओर आकृष्ट कर सकता है । किन्तु जब वह यह चित्रण केवल चित्रण के लिए ही करता है, उसके पीछे किसी महान् आदर्श को पस्तुत नहीं करता और न ही विशिष्ट मर्यादाओं को ध्यान में रखता है, तभी वह आपत्तिजनक बन जाता है । वस्तुतः वास्तविक यथार्थवादी उपन्यासकार तो वही समझा जाता है जो कि केवल यथार्थ नग्न चित्रण को ही अपना उद्देश्य समझता है । ऐसी अवस्था में वह चित्रण निरुद्देश्य होने के कारण केवल कुत्सित भावनाओं को ही जागृत करने वाला बन जाता है । यदि हम साहित्य में भी उसी गन्दे और कुत्सित वातावरण से घिरे रहे, जो कि यथार्थ जीवन में हमारे साथ निरन्तर विद्यमान रहता है, तो साहित्य हमें आनन्दमय प्रकाश की ओर किस प्रकार ले जा सकता है ? उद्देश्यहीन नग्न यथार्थ मानव-जीवन के लिए निश्चय ही कल्याणकारी नहीं हो सकता ।

आदर्शवादी उपन्यास यदि जीवन की वास्तविकताओं से मुख फेरकर केवल सपनों की सृष्टि करता है, और मनुष्य में पलायनवादी प्रवृत्ति को जागृत करता है तो वह भी अपने अन्तिम परिणाम में साहित्य के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं हो पाता । हाँ, जहाँ आदर्श का अर्थ स्वप्न-निर्माण न होकर जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि पर सम्भावना के अन्तर्गत रहते हुए, जीवन को उच्चता और उत्कृष्टता की ओर प्रेरित करता है, वहाँ आदर्शवाद निश्चय ही साहित्य में कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है । जहाँ आदर्श सम्भावना की सीमा से बाहर हो जाता है, वहाँ वह निश्चय ही दिवा-स्वप्न बन जायगा । हमारे जीवन में सब-कुछ न तो अगुन्दर ही है और न सुन्दर ही । अतः उपन्यास में मानव-जीवन को न तो सुन्दर रूप में ही उपस्थित किया जा सकता है और न असुन्दर रूप में ही । यथार्थ केवल असुन्दर नहीं होना चाहिए और आदर्श केवल स्वप्न न हो । वस्तुतः साहित्य में आदर्श और यथार्थ के सम्मिश्रण से ही किसी उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है । जीवन जिस रूप में है उसके वैसे ही चित्रण में तो आपत्ति नहीं, किन्तु उसे कैसा होना चाहिए, साथ ही यह भी चित्रित किया जाना चाहिए । इस प्रकार आदर्श और यथार्थ का समन्वय ही उपन्यास की उत्कृष्टता को बढ़ा सकता है । इस विषय में मुन्शी प्रेमचन्द का यह कथन युक्तियुक्त है :

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और

आदर्श का समावेश हो गया हो । उमे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं । आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है ।

कथोपकथन—उपन्यास के पात्र जिस पारस्परिक वार्तालाप द्वारा कथा-वस्तु को आगे बढ़ाते हैं, और अपने चरित्र को प्रकाशित करते हैं, उसे कथोप-कथन कहते हैं । इस प्रकार कथोपकथन के दो काम हैं—(१) कथावस्तु का विस्तार और (२) चरित्र चित्रण । कथोपकथन द्वारा घटनाओं को गतिशीलता प्रदान की जाती है, और बहुत सी नवीन घटनाओं का प्रादुर्भाव होता है । दो परस्पर विरोधी विचारों के संघर्ष से कोई भी घटना घटित हो सकती है । यह संघर्ष वार्तालाप द्वारा ही मुखरित होता है ।

कथोपकथन द्वारा ही कथावस्तु में नाटकीयता और सजीवता आ जाती है । नाटकीय तत्त्वों के समावेश के कारण कथानक वास्तविक हो जाता है, फलतः उसमें आकर्षण उत्पन्न हो जाता है ।

कथोपकथन द्वारा लेखक कथावस्तु की अनेक ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख कर सकता है, जिन्हें कि वे अपनी मूल कथा के प्रवाह में घटित होती हुई नहीं दिखा सकता । समय के अभाव में, अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होने वाली घटनाओं के लिए यह जरूरी नहीं कि उन्हें रंगमंच पर ही दिखाया जाय, इस कारण वार्तालाप द्वारा उनका उल्लेख कर दिया जाता है, जिससे कथा-प्रवाह बना रहता है, उसमें अरोचकता भी नहीं आती और घटना-क्रम भी विकसित होता रहता है ।

कथोपकथन द्वारा ही पात्रों की आंतरिक मनोवृत्तियों का प्रदर्शन होता है । अतः बहुत-से उपन्यासकारों का यह कथन है कि किसी भी पात्र का चरित्र तभी पूर्ण रूप से अवगत हो सकता है जब या तो उसके शत्रु उसकी प्रशंसा करें या वह स्वयं कथोपकथन द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति करे । वर्णन द्वारा उपन्यासकार उनके चरित्र पर चाहे जितना भी प्रकाश क्यों न डाल ले लेकिन जब तक पात्र अपना मुख नहीं खोलते तब तक वह उनकी चारित्रिक विशेषताओं के प्रदर्शन के लिए कथोपकथन का ही आश्रय ग्रहण करते हैं । क्योंकि कथोपकथन द्वारा वह पात्रों की मानसिक स्थिति को और उनका आन्तरिक प्रवृत्तियों को उघाड़कर रख सकता है ।

जो कथोपकथन न तो कथावस्तु को ही विकसित करे, और न पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को ही प्रदर्शित करे, वह उपन्यास के सर्वथा अनुपयुक्त होता है। कथोपकथन को सजीव और उपन्यास के उपयुक्त बनाने के लिए निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—

१. कथोपकथन पात्रों की बौद्धिक और मानसिक स्थिति के अनुकूल होना चाहिए। बातचीत का सरल, सुबोध और मनोहर होना आवश्यक है।

२. कथावस्तु से असम्बन्धित बातचीत का सर्वथा प्रवेश नहीं होना चाहिए; चाहे यह बातचीत कितनी ही आकर्षक, मनोरंजक और परिहासजनक क्यों न हो। ऐसा वर्णन असंगत और कथावस्तु के प्रवाह में बाधक होता है।

३. कथोपकथन में नाटकीयता और स्वाभाविकता होनी चाहिए।

४. कथोपकथन की भाषा भी पात्रों के अनुकूल हो। उनके तर्क और उनके द्वारा प्रतिपादित विषय भी उनके अपने बौद्धिक धरातल के अनुरूप ही होने चाहिए। मल्लाहों या कबाडिनों की भाषा यदि संस्कृत-मिश्रित हो और इसके विपरीत साधारण ग्रामीणों की भाषा में उर्दू तथा अरबी-फारसी के शब्दों का आधिक्य हो, तो यह सर्वथा अनुपयुक्त और असंगत होगा। प्रेमचन्द जी की भाषा पात्रानुकूल होती है, वह पात्रों की बौद्धिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप बदलती रहती है। यही नहीं, ये पात्रों की भाषा में उनके सामाजिक स्तर का भी ख्याल रखते हैं। किन्तु प्रसाद जी की भाषा सब परिस्थितियों और पात्रों के लिए एक रस और एक रूप रहती है। अनेक बार लेखक अपने दार्शनिक या जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों को अपने साधारण पात्रों द्वारा कहलाने लगता है, यह सर्वथा अनुप-युक्त है।

५. गम्भीर दार्शनिक समस्याओं के सुलभाव के लिए और लेखक के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए ऊँचे बौद्धिक धरातल वाले पात्रों की ही रचना की जानी चाहिए। तभी कथोपकथन में स्वाभाविकता, सजीवता, सरलता, रोचकता, प्रसंगानुकूलता, सार्थकता और सक्षिप्तता इत्यादि गुण उत्पन्न हो सकते हैं।

देश, काल तथा वातावरण—उपन्यासों में स्वाभाविकता और सजीवता का आभास देने के लिए देश, काल तथा वातावरण का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। प्रत्येक पात्र और उसका प्रत्येक कार्य किसी विशिष्ट देश, समय और

वातावरण में होता है, वह इन सबमें बँधा हुआ होता है, अतः उपन्यास की पूर्णता के लिए इन सबका वर्णन आवश्यक है।

देश, काल तथा वातावरण के अन्तर्गत आचार-विचार, वातावरण, रीति-रिवाज, रहन-सहन और राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन आ जाता है। सामाजिक उपन्यासों में विभिन्न समस्याओं के चित्रण का अवसर रहता है। इन सब समस्याओं का चित्रण करते हुए भी उपन्यासकार को पात्रों की और घटनाओं के घटित होने की परिस्थिति, काल और वातावरण का चित्रण करना पड़ता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में देश, काल तथा वातावरण का चित्रण बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि लेखक की वर्तमान काल की और ऐतिहासिक काल की परिस्थितियों में बहुत अन्तर होता है, इसलिए वह ऐतिहासिक काल की घटना को वर्तमान काल की परिस्थितियों में घटित होता हुआ चित्रित नहीं कर सकता, प्रायः ऐतिहासिक उपन्यासों में या तो ऐतिहासिक घटनाओं का ही चित्रण होता है या फिर एक विशिष्ट काल को ही चित्रित किया जाता है। दोनों में ही तत्कालीन, सामाजिक, राजनीतिक-और धार्मिक परिस्थितियों के चित्रण के अतिरिक्त, उस समय के मुख्य-मुख्य रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग, आचार-विचार इत्यादि का वर्णन रहता है। युग विशेष का चित्र प्रस्तुत करने के लिए तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण का सजीव चित्रण आवश्यक है। अतः ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करने से पूर्व उपन्यासकार को अपने प्रतिपादित युग की सम्पूर्ण परिस्थितियों और रीति-रिवाजों का विशेष अध्ययन करना चाहिए। इस विषय में लेखक पुरातत्त्व और इतिहास से विशेष सहायता ले सकता है।

प्राकृतिक दृश्य और वातावरण का चित्रण तो प्रत्येक उपन्यास में ही होता है, कुछ उपन्यासों में ये चित्रण बहुत विस्तृत होते हैं, और कुछ में अत्यन्त संक्षिप्त। हमारे विचार में स्थानीय दृश्यों का चित्रण उपन्यासों में आवश्यक तो अवश्य है, किन्तु वे न तो बहुत विस्तृत ही होने चाहिए और न बहुत संक्षिप्त ही। क्योंकि यदि वे बहुत विस्तृत होंगे तो उनसे अवश्य ही हमारा चित्त ऊब जायगा और वे हमारे लिए अरुचिकर हो जायेंगे, संक्षिप्तता में अनेक बार प्रभाव उत्पन्न नहीं होता। देश, काल तथा वातावरण का वर्णन वही तक उचित

होता है जहाँ तक कि वह कथा-प्रवाह में सहायक हो ।

/ उद्देश्य—उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन तो अवश्य है, किन्तु आज वे मनोरंजन के अतिरिक्त किसी एक विशिष्ट उद्देश्य का भी प्रतिपादन करते हैं । केवल मनोरंजन ही जिनका लक्ष्य हो, ऐसे उपन्यास आज लिखे तो बहुत जाते हैं, किन्तु वे उत्कृष्ट कोटि के उपन्यासों के अन्तर्गत नहीं गृहीत किये जाते । उत्कृष्ट उपन्यास तो वही है जो किसी-न-किसी विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिपादन करते हैं और जीवन की अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते हैं ।

किन्तु यह उद्देश्य किसी एक उद्देश, व्याख्यान, या भाषण के रूप में अभिव्यक्त नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण उपन्यास में विभिन्न सूक्तियों और वाक्यों में विकीर्ण हुआ रहता है । अपने इन्ही विचारों या सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए वह अनेक पात्रों की सृष्टि करता है, और उनके परस्पर-विरोधी विचारों में संघर्ष दिखाकर अपने सिद्धान्त की उत्कृष्टता को सिद्ध करता है । लेखक के आदर्शों और विचारों का प्रतिनिधित्व नायक द्वारा होता है

यहाँ एक बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि यद्यपि आजकल विशिष्ट मतवाद और सिद्धान्त के प्रचार के लिए ही अनेक उपन्यास लिखे जाते हैं, किन्तु यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य कहानी कहना है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं । कहानी कहने के साथ-साथ वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने मत का प्रतिपादन कर सकता है, और दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की व्याख्या भी कर सकता है । उपन्यासकार के विचार और आदर्श उपन्यास की कथावस्तु में ही प्राप्त होते हैं और वह विभिन्न पात्रों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं । उपन्यासकार अपने उद्देश्य की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को गौण बनाकर जीवन और घटनाओं को इस रूप में चित्रित करेगा कि अप्रत्यक्ष रूप से वे उसी के उद्देश्य का प्रतिपादन करेंगे । जहाँ वह प्रत्यक्ष रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगगा और कलाकार के धर्म को गौण बना देगा, वहाँ वह कलाकार न रहकर उपदेशक या प्रचारक बन जायगा । कलाकार का जीवन-दर्शन और विचार उपन्यास के कथानक में एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही अभिव्यक्त होना चाहिए, ताकि वह उपन्यास में नीरसता और अरोचकता उत्पन्न न कर दे ।

उद्देश्य की अभिव्यक्ति के विषय में एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी

चाहिए, वह यह कि उसका उद्देश्य महान् तथा प्रभावशाली हो, वह पाठको को एकदम प्रभावित कर ले। उसकी अभिव्यक्ति की शैली और परिस्थितियाँ भी प्रभावोत्पादक हों। असंगत स्थान पर अपने विचारों को बिखेर देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। पात्रों द्वारा अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति करना अधिक सुन्दर और कलात्मक है। आत्मकथात्मक ढंग पर कहीं गई कथावस्तु में उद्देश्य की अभिव्यक्ति बहुत सुन्दर और सरल ढंग से हो सकती है। जटिल कथावस्तु वाले उपन्यासों में उद्देश्य की अभिव्यक्ति बहुत कठिनता से होती है। कुछ उपन्यासकार नाटककार की भाँति पात्रों को उनके वास्तविक रूप में चित्रित करके उन्हें वैसा ही छोड़ देते हैं, उसकी कथावस्तु, शैली और तथ्य-कथन के ढंग से ही एक विशिष्ट नैतिक उद्देश्य का प्रतिपादन कर देते हैं। कहीं-कहीं पात्र भी कथोपकथन द्वारा उसके विचारों को अभिव्यक्त कर देते हैं। कथावस्तु द्वारा उद्देश्य की अभिव्यक्ति का यह ढंग नाटकीय कहलाता है।

दूसरा ढंग विश्लेषणात्मक कहलाता है। इसमें वह स्वयं अपने उद्देश्य का प्रतिपादन करता है, और चरित्र-चित्रण करता हुआ एक आलोचक की भाँति पात्रों का गुण-दोष-विवेचन करता है। इसी विवेचना द्वारा वह जीवन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को अभिव्यक्त कर देता है। यह विवेचना या सिद्धान्त-प्रतिपादन सम्पूर्ण कथावस्तु में बिखरा रहता है, उन्हीं को एकत्रित करके हम उद्देश्य और आदर्श से अवगत हो सकते हैं। इस चारित्रिक विश्लेषण में ही वह अपने नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति भी कर देता है, जो कि वस्तुतः उसका जीवन-दर्शन होता है। मुन्शी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अनेक स्थलों पर इसी प्रकार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति की है। किन्तु आज इस ढंग को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। नाटकीय प्रणाली द्वारा पात्रों का कथोपकथन हो, जहाँ आदर्श और जीवन-दर्शन अभिव्यजित हो जाय, अधिक कलात्मक और सुन्दर समझा जाता है। क्योंकि यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि उपन्यासकार मुख्य रूप से कलाकार है, वह सौन्दर्य का स्रष्टा है; उसका कार्य उपदेश या प्रचार नहीं।

आज के उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनोविज्ञानिक विश्लेषण और उसके द्वारा मानव-मन के गहनतम स्तरों की व्याख्या करना है।

● शैली—शैली का विवेचन पीछे साहित्य के प्रकरण में किया जा चुका

है; यहाँ उसका विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं। क्योंकि शैली साहित्य का एक ऐसा तत्त्व है जो कि उसके सभी अंगों में समान रूप से व्याप्त रहता है। फिर भी औपन्यासिक शैली के विषय में यहाँ कुछ-न-कुछ कह देना अनुपयुक्त न होगा।

कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यास में संगठन, व्यवस्था, क्रम और सगति आदि गुणों की उपस्थिति आवश्यक है। उपन्यास की भाषा-शैली प्रसाद और माधुर्य-गुण से युक्त होनी चाहिए, परिस्थिति और विषय के अनुकूल ओज का समावेश भी हो सकता है। किन्तु प्राचीन उपन्यासों की भाँति आज के उपन्यासों की भाषा लम्बे-लम्बे पदों, समासों और रूपक आदि क्लिष्ट अलंकारों से युक्त नहीं हो सकती। आज उसकी सबसे बड़ी विशेषता सरलता ही है। हाँ, उपमा आदि साम्यमूलक अलंकारों और मुहावरों तथा लोकोवितथों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

वैसे प्रत्येक उपन्यासकार अपनी वैयक्तिक शैली का स्वतन्त्र विकास करता है।

४. उपन्यासों के प्रकार

साधारणतः उपन्यासों का वर्गीकरण वर्ण्य विषय, उद्देश्य तथा शैली के आधार पर किया जाता है। वर्ण्य-विषय के आधार पर उपन्यासों के रोमांचक, पौराणिक, सामाजिक, इतिहासिक तथा तिलस्मी या जासूसी इत्यादि अनेक प्रकार हो सकते हैं। किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर लिखे गए उपन्यास भी उद्देश्य के अनुरूप ही वर्गीकरण के अन्तर्गत गृहीत किये जायेंगे। समाज की किसी समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से लिखे गए उपन्यास सामाजिक उपन्यास कहलायेंगे, और मानव-मन की आन्तरिक अनुभूतियों के विश्लेषण के लिए लिखे गए उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक कहला सकते हैं। वस्तुतः उपन्यासों के वर्गीकरण में शैली का ही आश्रय लिया जाना चाहिए। सामाजिक या पौराणिक उपन्यास वास्तव में जिन उद्देश्यों को सूचित करते हैं, उनसे उपन्यासों का प्रकार-बोध नहीं होता। मुख्य रूप से उपन्यासों के निम्न प्रकार हो सकते हैं—

(१) घटना-प्रधान उपन्यास, (२) चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास, (३) ऐतिहासिक उपन्यास तथा (४) सामाजिक उपन्यास। यह विभाजन उपन्यासों में प्राप्य विभिन्न गुणों तथा उसमें अपनाई गई वर्णन-शैली के आधार पर ही किया गया है।

(१) **घटना-प्रधान उपन्यास**—यों तो प्रत्येक उपन्यास में घटनाएँ रहती हैं, और उन्हींसे उसके कथावस्तु का निर्माण होता है। किन्तु घटना-प्रधान उपन्यासों की कथावस्तु में घटनाओं की प्रधानता होती है, और उन्हींके द्वारा पाठको के औत्सुक्य को जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। ये घटनाएँ प्रायः आश्चर्यजनक होती हैं। और इन्हींके द्वारा पाठक के हृदय में विस्मय को जागृत करके, उसे निरन्तर मुग्ध रखा जाता है। घटना-प्रधान उपन्यासों की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी मनोरञ्जकता है। उनकी कथावस्तु प्रेमालोक्यों, पौराणिक कथाओं और जासूसी तथा तिलस्मी घटनाओं में निर्मित होती है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी-उपन्यासकार स्टीवेन्सन (Stevenson) ने घटना-प्रधान उपन्यासों के विषय में लिखा है :

उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता इसी में है कि वह एक ऐसी आग्नि की सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियों को ऐसी कुशलता के साथ प्रकट कर दे कि पाठकों की कल्पना उसमें आकृष्ट हुए बिना न रह सके, और वे उस क्षण के लिए अपने को कहानी के पात्रों में से एक समझने लगे और उनके कृत्य को दायित्व रूप से अपना समझकर अनुभव करने लगे।^१

किन्तु जहाँ केवल कौतूहल और औत्सुक्य का जागरण ही एकमात्र उद्देश्य हो, वैसे उपन्यास अधिक सफल नहीं कहे जाते। क्योंकि आज उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं समझा जाता। दूसरे इस श्रेणी के उपन्यासों में एक घटना की प्रधानता रहती है और उसके चारों ओर अनेक घटनाएँ एकत्रित कर दी जाती हैं। ये घटनाएँ इस क्रम से घटित होती हैं कि उनमें चरित्र-चित्रण का विचार नहीं रहता, केवल पाठक के औत्सुक्य को ही जागृत रखने का प्रयत्न किया जाता है। प्रायः पात्रों को भयकर सघर्ष देखने पड़ते हैं, किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वे सफल होते हैं और उपन्यास का अन्त सुखद होता है। कथानक का स्वरूप भी सर्वथा अविविज्ञानिक होता है, क्योंकि वह किसी नियम के अन्तर्गत नहीं चलता, अपितु लेखक की इच्छानुसार परिवर्तित होता रहता है।

१ The greatest triumph of the novelist is the power to create so perfect an illusion to represent situation of interest with so irresistible an appeal to the imagination, that the reader shall for the moment identify himself with the characters of the story and seem to experience the adventures in his own person.

हिन्दी में घटना-प्रधान उपन्यासों की संख्या पर्याप्त है 'चन्द्रकान्ता सन्तति आदि जासूसी तथा पौराणिक उपन्यास इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

(२) चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास—सर्वश्रेष्ठ समझे जाने वाले ऐसे उपन्यासों में घटना-क्रम पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, पात्रों का चुनाव और विकास भी कथावस्तु के अनुकूल नहीं होता। पात्र सदा स्वतंत्र रहते हैं, और उन्हींके विकास के निमित्त कथावस्तु का विकास होता है। ऐसे उपन्यासों में कोई ऐसा निश्चित केन्द्र नहीं होता जिसके चारों ओर घटनाएँ विकसित हो सकें। पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के प्रदर्शन के निमित्त विभिन्न परिस्थितियों का प्रादुर्भाव होता है, और अनेक छोटी-छोटी घटनाओं का विकास भी जारी रहता है। यह घटनाएँ भी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को ही प्रदर्शित करती हैं। पात्रों की सबलताओं और दुर्बलताओं का यद्यपि प्रारम्भ में ही वर्णन कर दिया जाता है, और वे सम्पूर्ण कथानक में अपरिवर्तित-से ही रहते हैं, किन्तु उनका विकास इस ढंग से होता है, और उनको ऐसी परिस्थितियों के बीच उपस्थित किया जाता है, जहाँ कि पाठक अपनी भावनाओं को उनके प्रति निरन्तर परिवर्तित करता रहता है।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों का कथानक प्रायः असंगठित और शिथिल होता है। क्योंकि कथानक का मुख्य कार्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का दर्शन ही होता है। इसमें पात्र सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं, लेखक उनकी रचना करने के अनन्तर उन्हें अपने हाथ की कठपुतली नहीं बना सकता, वे लेखक द्वारा प्रशस्त किये हुए मार्ग पर नहीं चलते, अपितु अपने मार्ग का चुनाव स्वयं करते हैं। निरन्तर गतिशील होने के कारण उनका क्रमिक विकास होता रहता है, उस विकास के अनुकूल ही कथावस्तु का रूप भी बनता रहता है। वस्तुतः चरित्र-प्रधान उपन्यास मानव-जीवन के पूर्ण प्रतिबिम्ब होते हैं। उनमें मानव-जीवन की सम्पूर्ण सबलताओं और दुर्बलताओं को क्रम पूर्वक विकसित होते हुए प्रदर्शित किया जाता है। मानव के जटिल जीवन को इस प्रकार अंकित करना बहुत कठिन कार्य है। इसी कारण चरित्र-प्रधान उपन्यासों का अत्यधिक महत्त्व है। ये उपन्यास समाज, देश तथा जाति की चारित्रिक विशेषताओं का प्रदर्शन करते हैं। हिन्दी में मन्शी प्रेमचन्द के 'गबन' तथा 'गोदान' इत्यादि इसी श्रेणी

के उपन्यास हैं।

(३) **इतिहासिक उपन्यास**—इसमें लेखक किसी प्राचीन पात्र अथवा युग विशेष का चित्रण करता है। अपने इतिहासिक ज्ञान तथा कल्पना द्वारा वह अपने द्वारा प्रतिपादित इतिहासिक युग की मान्यताओं, विश्वासों तथा वातावरण का सजीव चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। अपने इतिहासिक पात्रों अथवा युग पर प्रकाश डालना ही उसका मुख्य उद्देश्य रहता है। लेखक को ऐसे उपन्यासों को लिखते समय सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसके द्वारा वर्णित कथावस्तु में और उसके द्वारा चित्रित चरित्र में किसी भी इतिहास-विरुद्ध बात का समावेश न हो। हाँ, कथानक को रोचक बनाने के लिए वह कल्पना का समुचित प्रयोग कर सकता है। जहाँ कही इतिहासिक तथ्य विश्रुद्ध हो, वहाँ भी वह कल्पना द्वारा नवीन घटनाओं का समावेश करके उन्हें शृङ्खला-बद्ध कर लेता है। 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', (वृन्दावन लाल वर्मा) तथा 'इरावती' (प्रसाद) इतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत ही ग्रहीत किये जाते हैं।

(४) **सामाजिक उपन्यास** वे हैं जिनमें सामयिक युग के विचार, आदर्श और समस्याएँ चित्रित रहती हैं। सामयिक समस्याएँ ही इन उपन्यासों का वर्ण्य विषय होती हैं। ऐसे उपन्यास प्रायः राजनीतिक और सामाजिक धारणाओं और मतवादों से विशेष प्रभावित होते हैं, और लेखक अपने समय के आदर्शों के चित्रण के लिए पात्रों की रचना करता है। मुन्शी प्रेमचन्द तथा आज के कुछ प्रगतिवादी लेखकों के उपन्यास इसी श्रेणी के अन्तर्गत ग्रहीत किये जाते हैं।

उपन्यास के इन मुख्य भेदों के अतिरिक्त बहुत-से अन्य प्रकार के उपभेद भी किये जा सकते हैं। इनमें भाव-प्रधान तथा नाटकीय उपन्यास मुख्य हैं। भाव-प्रधान उपन्यासों में न तो कथानक का ही विचार रखा जाता है और न चरित्र-चित्रण का। उनकी शैली भी अत्यन्त भावुकतापूर्ण, चित्रमयी और रंगीन होती है। इनमें कल्पना तथा कवित्व का आधिक्य रहता है। कथानक शिथिल और असंगठित होता है।

नाटकीय उपन्यासों में पात्रों तथा कथानक दोनों का ही स्वतन्त्र विकास होता है, न तो कथानक ही पात्रों पर आश्रित होता है, और न पात्र ही कथानक पर। किन्तु दोनों एक-दूसरे से असम्बन्धित नहीं रहते। पात्र जीवन के एक

सकुचित क्षेत्र में सीमित हो जाते हैं, इधर घटनाएँ द्रुत गति से परिवर्तित होती हैं और कथावस्तु में जटिलताएँ उपस्थित हो जाती हैं । पात्रों द्वारा उन्हींके सुलभाव के प्रयत्नों के फलस्वरूप कथानक आगे बढ़ता जाता है । इनमें कथोप-कथन की अधिकता होती है । प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा' उपन्यास इसी श्रेणी का है ।

उपन्यासों के उपर्युक्त वर्गीकरण को हम सर्वाङ्गीण नहीं कह सकते, क्योंकि आज उपन्यासों की शैली और कथावस्तु आदि के ढंग में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा है कि उन्हें किसी भी एक निश्चित सीमा में बाँध देना अत्यन्त कठिन है । फिर भी प्राचीन और नवीन उपन्यासों के वर्गीकरण में उपर्युक्त विवेचन पर्याप्त सहायक हो सकता है ।

५. उपन्यास तथा कविता

साहित्य में व्याप्त भाव-तत्त्व की प्रधानता के फलस्वरूप कविता का जन्म होता है और कथा-तत्त्व की प्रमुखता के परिणामस्वरूप उपन्यास तथा कहानी का । भाव-तत्त्व की प्रमुखता के कारण कविता में रागात्मकता की प्रधानता होती है, और उसकी अभिव्यक्ति भी संगीतमयी भाषा में होती है । किन्तु उपन्यास में कथा-तत्त्व की प्रधानता होती है, और उसकी अभिव्यक्ति भी छन्द तथा लय-शून्य गद्य में होती है ।

कविता में कवि की आत्मा अन्तर्मुखी होती है, वह बाह्य जगत् में विचरण करती हुई भी अन्तर्जगत् की ओर लौट आती है, परिणामस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति में जहाँ लय और संगीत की प्रधानता होती है । वहाँ उसमें संक्षिप्तता और सघनता भी होती है । उपन्यासकार की वस्तुयाँ वहिर्मुखी होती हैं, अतः उपन्यास में वर्णन की प्रधानता रहती है ।

कथावस्तु तथा पात्र उपन्यास के अनिवार्य गुण हैं, किन्तु कविता के लिए ऐसे किसी नियम की आवश्यकता नहीं । उसमें कथावस्तु और काल्पनिक तथा संकेतात्मक पात्र हो भी सकते हैं, और नहीं भी । ऐसी अनेक कविताएँ मिल जाती हैं जहाँ कथावस्तु या व्यक्ति का सर्वथा अभाव होता है, और केवल एक प्राकृतिक दृश्य या हृदयानुभूति का वर्णन-मात्र होता है । नवयुग का प्रगीत-काव्य केवल हृदयोच्छ्वास की अभिव्यक्ति-मात्र ही है । कविता में कल्पना की

प्रधानता होती है, किन्तु उपन्यास में कल्पना के साथ यथार्थ को भी स्थान दिया जाता है ।

६. उपन्यास और इतिहास

उपन्यास और इतिहास दोनों ही मानव-जीवन से सम्बन्धित हैं और वे उसकी रूप-रेखा को प्रस्तुत करते हैं । किन्तु दोनों में जो अन्तर है, उसे कि हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

१. इतिहास में तथ्य-कथन की प्रवृत्ति होती है, उसमें कल्पना को स्थान प्राप्त नहीं । किन्तु उपन्यास में कल्पना का आश्रय लेकर जीवन के नीरस और शुष्क तथ्यों को भी रंगीन, चित्रमय और सरल बना दिया जाता है । उपन्यास-कार कथा-वर्णन के साथ-साथ भाव और हार्दिक अनुभूति को भी ध्यान में रखता है, किन्तु इतिहासकार भाव और अनुभूति-वर्णन के स्थान पर घटनाओं को यथातथ्य रूप में वर्णित करता हुआ नाम और तिथि-निर्धारण को अधिक महत्त्व देता है ।

२. उपन्यासकार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है और इतिहासकार राष्ट्र, जाति तथा समाज को । उपन्यासकार समाज तथा राष्ट्र को पृष्ठभूमि के रूप में प्रयुक्त करता हुआ व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूतियों का विश्लेषण करता है । वह विभिन्न परिस्थितियों के उपस्थित होने पर व्यक्ति के हृदय में होने वाले संघर्ष-विघर्ष को बड़ी सावधानी से चित्रित करता है । किन्तु इतिहासकार को व्यक्ति की आन्तरिकता से कोई मतलब नहीं होता ।

३. उपन्यासकार कल्पना का आश्रय लेकर नवीन सृष्टि करता है, वह नवीन पात्रों, परिस्थितियों और देशों की रचना करके उनका वर्णन करता है । वह मनुष्य की अव्यक्त और व्यक्त अनुभूतियों तथा भावनाओं को चित्रमयी भाषा में वर्णित करके साकार बना देता है । भगवान् बुद्ध द्वारा गृह-त्याग के फलस्वरूप यशोधरा के दुःख का उल्लेख तो शायद इतिहासकार कर दे, किन्तु वह उसके दुःख के स्वरूप उसकी अभिव्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्म और चिन्ताकर्षक वर्णन नहीं कर सकता, यह कार्य उपन्यासकार का ही होता है ।

४. इतिहास घटनाओं की प्रतिलिपि-मात्र है, उसमें मौलिकता को स्थान प्राप्त नहीं होता, किन्तु उपन्यास प्रतिलिपि-मात्र नहीं, वह जीवन और घटनाओं की

नवीन सृष्टि है ।

७. हिन्दी-उपन्यास का विकास

भारतीय कथा-साहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन कहा जाता है । किन्तु उपन्यास के आधुनिकतम रूप के अनुसार संस्कृत-साहित्य में उपन्यासों का एक प्रकार से अभाव ही था । केवल 'कादम्बरी' और 'दशकुमार चरित' ही उपन्यास कहला सकते हैं । 'दशकुमार चरित' में घटना और शैली दोनों को ही समान महत्त्व प्राप्त है, किन्तु 'कादम्बरी' में शैली का उत्कर्ष अधिक है । ऐसा कहा जाता है कि 'कादम्बरी' की कथा का अधिकांश भाग बाण ने 'बृहत्कथा' से प्राप्त किया है । हिन्दी का उपन्यास-साहित्य आधुनिक युग की देन है । यद्यपि कुछ विद्वान् हिन्दी-उपन्यास की परम्परा का प्रारम्भ सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों से मानते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों की ध्यान पूर्वक समीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें औपन्यासिक तत्त्वों का विकास नहीं हो पाया ।

हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास कहे जा सकते हैं । भारतेन्दु-युग में हिन्दी-गद्य का रूप स्थिर हो चुका था और भारतेन्दु बाब के सहयोगी अपने निरन्तर परिश्रम द्वारा हिन्दी-गद्य के विविध अंगों—उपन्यास, निबन्ध, नाटक तथा कहानी इत्यादि—को सम्यक् रूप प्रदान करने का प्रयत्न कर रहे थे । लाला श्रीनिवासदास (परीक्षा गुरु), पं० बालकृष्ण भट्ट (सौ अजान एक सुजान), तथा राधाकृष्णदास (निस्सहाय हिन्दू) भारतेन्दु-काल के प्रमुख मौलिक उपन्यासकार हैं । इन लेखकों के उपन्यासों में कथा-तत्त्व की कमी और उपदेशात्मकता की प्रधानता है ।

इसी समय के लगभग बंगला तथा अंग्रेजी के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद प्रारम्भ हुआ । इन अनुवादों का हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों की रुचि पर विशेष प्रभाव पड़ा, और हिन्दी के मौलिक उपन्यासकार भी नवीन शैली, भावाभिव्यक्ति के ढंग और कहानी कहने की शैली से प्रभावित हुए । सर्व श्री पं० किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी भारतेन्दु-युग के अन्तिम चरण के प्रमुख उपन्यासकार हैं । पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने इतिहासिक, सामाजिक, ऐयारी तथा जासूसी इत्यादि सभी प्रकार के उपन्यास लिखे । अपने विविध उपन्यासों में उन्होंने विविध भाषा-शैलियों का प्रयोग किया । ये उपन्यास अंग्रेजी और बंगला-उपन्यास-शैली से विशेष रूप से प्रभावित

थे; इसी कारण उनके उपन्यासों के पात्र वास्तविक हैं और उनके द्वारा वर्णित सामाजिक परिस्थितियाँ यथार्थ और सजीव हैं।

‘चन्द्रकान्ता’ देवकीनन्दन खत्री की प्रथम रचना है, केवल इसी उपन्यास के बल पर वे हिन्दी के उपन्यासकारों में स्थान ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि केवल इसी उपन्यास को पढ़ने के लिए कितने ही लोगों ने हिन्दी सीखी, और भारत की कितनी ही भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। इनके उपन्यास घटना-प्रधान हैं, इनमें कौतूहल और औत्सुक्य की प्रधानता होती है। तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास-लेखकों में खत्री जी सर्व-प्रमुख हैं।

गोपालराम गहमरी ने हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की परम्परा को प्रारम्भ किया। इन्होंने लगभग ५०-६० उपन्यास लिखे हैं। इनमें घटनाओं की प्रधानता होती है, और कथा को इस रोचकता से वर्णित किया जाता है कि पाठक मुग्ध हो जाता है।

हिन्दी-उपन्यास की प्रारम्भिक अवस्था के अनन्तर जो प्रगति हुई है उसको हम प्रथम चरण, द्वितीय चरण तथा तृतीय चरण के रूप में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम चरण के उपन्यासकारों में सर्व श्री प्रेमचन्द, प्रसाद, कौशिक, बेचन शर्मा ‘उग्र’, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, और जैनेन्द्रकुमार प्रमुख हैं।

राजनीति में यह युग गान्धीवादी आदर्शवाद का था, आर्य समाज की सुधारवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप देश में अनेक समाज-सुधार-आन्दोलन चल रहे थे, प्राचीनता के प्रति मोह बढ़ रहा था। अतः इन उपन्यासकारों की रचनाओं में गान्धीवाद, असहयोग, सामाजिक सुधार और आदर्शवाद की प्रधानता है।

द्वितीय चरण के अन्तर्गत सर्व श्री भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण मिश्र और इलाचन्द्र जोशी सर्वप्रमुख हैं। इन लेखकों ने नारी और यौन-समस्या पर प्रकाश डाला है। इसी चरण में जीवन और राष्ट्र की समस्याओं को समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार सुलझाने के प्रयत्न प्रारम्भ हो चुके थे। अतः साहित्य में भी समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की समीक्षा की गई। समाजवादी विचार-धारा में प्रभावित उपन्यासकारों में सर्व श्री राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, पहाड़ी, अस्क, मन्मथनाथ गुप्त, श्रीकृष्ण-दास, अचल, रांगेय राघव, तथा अज्ञेय इत्यादि प्रमुख हैं। इन लेखकों ने नवीन

शैली तथा नवीन विचार-धारा द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के तृतीय चरण का श्रीगणेश भी किया है। सियारामशरण गुप्त, गुरुदत्त, ठाकुर श्रीनाथसिंह तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इसी चरण के अन्तर्गत गृहीत किये जायेंगे। यद्यपि इन लेखकों की शैली वैयक्तिक है, और ये किसी वाद विशेष से प्रभावित भी नहीं।

आज का हिन्दी-उपन्यास-साहित्य निरन्तर विकसित हो रहा है। औपन्यासिक शैली तथा टेकनीक में अनेक नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं। उपन्यास का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल और आशापूर्ण है।

८. पाश्चात्य उपन्यास

यूरोप की सभी उन्नत भाषाओं के उपन्यास-साहित्य में फ्रेंच, रूसी तथा अंग्रेजी उपन्यास ही अग्रणी हैं। यहाँ संक्षेप में हम इन भाषाओं के उपन्यास-साहित्य का परिचय देंगे।

फ्रेंच उपन्यास बहुत समृद्ध और उन्नत है। बहुत काल तक उसने यूरोपीय साहित्य का पथ-प्रदर्शन किया है। फ्रेंच-उपन्यास में नवीन धारा का प्रवर्तक रूसो माना जाता है। यद्यपि औपन्यासिक शैली की दृष्टि से उसके उपन्यासों में बहुत-से दोष हैं, किन्तु उनमें प्रभाव डालने की शक्ति ससार के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास से कम नहीं।

रूसो मानव-मन और चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ पात्रों की सबलताओं और दुर्बलताओं का चित्रण करने में प्रमुख स्थान रखता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति रूसो को एक स्वाभाविक आकर्षण था, अतः अपने उपन्यासों में रूसो ने बहुत ही चित्त आकर्षक प्राकृतिक चित्र खींचे हैं। उपन्यासों में रूसो ने अपने क्रान्तिकारी विचार एक नवीन ढंग और शैली से अभिव्यक्त किये। अभिव्यक्तीकरण की यह शैली रूसो के बाद भी बहुत समय तक फ्रांस में प्रचलित रही। 'नोविली हेलाइसी', 'एमली' तथा 'कन्फेशंस' रूसो की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

हैनरी बैले चरित्र-प्रधान तथा मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास-लेखकों में बहुत प्रसिद्ध है। सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के वर्णन और चरित्र-चित्रण में दौले पूर्ण यथार्थवादी था। बैले बहुत ही संक्षेप किन्तु मार्मिक गं से घटनाओं का चित्रण करता था, क्योंकि विस्तृत विवरण में उसे रुचि न थी।

बालज़ाक एक असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार था। आज के फ्रेंच-उपन्यासकारों में वह सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। बालज़ाक ने सामाजिक उपन्यास लिखे हैं, इनके कथानक सामाजिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। घटनाएँ, पात्र और कथानक स्वयमेव उसके हाथों में रूप-परिवर्तित करते जाते हैं। इतनी शक्तिमत्ता और सार्थकता हमने किसी अन्य उपन्यासकार में नहीं देखी। घटनात्मक उपन्यासों के अतिरिक्त बालज़ाक ने चरित्र-चित्रण तथा शिष्टाचार-प्रधान उपन्यास लिखने में भी विशेष ख्याति प्राप्त की है। 'कामेडी ह्यू मेन' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

अलेक्जेंडर ड्यूमा ने घटना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। ड्यूमा की शैली आकर्षक और वर्णन-प्रधान थी, उसके अनुकरण के अनेक प्रयत्न किये गए।

विक्टर ह्यूगो कवि या नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। वह क्रान्तिकारी व्यक्तित्व-सम्पन्न, अनुपम प्रतिभाशाली महान् कलाकार था। सैनिक के रूत में और फ्रेंच-क्रान्ति के समय अन्य अनेक रूपों में जीवन के विविध क्षेत्रों में कार्य करके इस महान् उपन्यासकार ने अनेक अनुभव संचित किये। इसी कारण ह्यूगो के उपन्यास मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं। मानव-मन की आन्तरिक प्रवृत्तियों का, उसके मूल में स्थित दानवी तथा मानवी भावनाओं का, बहुत सजीव और सूक्ष्म विवेचन उसने अपने उपन्यासों में किया है। 'आउट ला ऑफ आइसलैंड' में लेखक ने एक डाकू के कारनामों को इतनी सजीवता से चित्रित किया है कि उसे पढ़कर रोमाच हो आता है। विक्टर ह्यूगो का 'ला मिजरेबल' विश्व के श्रेष्ठतम उपन्यासों में से एक है। वह केवल इसीके बल पर विश्व का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हो सकता है।

जोला प्रकृतिवादी लेखक था, कभी-कभी अध्यात्मवाद की ओर भी विशेष आकृष्ट हो जाता था। उसने विश्लेषणात्मक ढंग से फ्रांस की पारिवारिक समस्याओं की समीक्षा की है। जोला-जैसी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति अन्य लेखकों में दुर्लभ है। उसने प्राकृतिक दृश्य, पार्वत्य सौन्दर्य, चरवाहों की मस्ती और चरागाहों का बहुत सूक्ष्म चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति-चित्रण में उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता था।

अनातोले फ्रांस, मोपासाँ तथा माशॉल फ्राउस्ट आज के श्रेष्ठ कलाकार हैं

अनातोले फ्रांस कवि, आलोचक, दार्शनिक और उपन्यासकार सब-कुछ था। इसी कारण उसके उपन्यास स्वतन्त्र शैली में लिखे जाते हुए भी असाधारण हैं। मोपासाँ निराशावादी कलाकार है। उसने अपनी नवीन शैली का आविष्कार किया था। मार्शल फ्राउस्ट ने नवीनतम मनोविज्ञानिक खोजों का आश्रय लेकर अपने उपन्यासों में मानव-मस्तिष्क की चेतन, अर्द्ध-चेतन और अवचेतन अवस्थाओं के विश्लेषण का प्रयत्न किया।

रोमाँ रोलाँ आधुनिक फ्रेंच-उपन्यासकारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वह न केवल एक श्रेष्ठ उपन्यासकार था अपितु एक उच्च मनीषी और मानवता-प्रेमी भी था। इसी कारण वह विश्व की महानतम विभूतियों में गिना जाता है। औपन्यासिक शैली में रोमाँ रोलाँ ने अनेक नवीन प्रयोग किये हैं। उनके उपन्यास प्रायः आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए हैं, जिसमें सम्पूर्ण घटनाएँ नायक के चरित्र-विकास में सहायक होती हैं। अन्य गौण पात्र धीरे-धीरे विलुप्त होते जाते हैं। जीवन की विविध अवस्थाओं और घटनाओं का वर्णन बहुत रोचक और आकर्षक होता है। मानसिक विश्लेषण में स्वगत-कथन की प्रणाली को अधिक ग्रहण किया गया है। 'जीन क्रिस्टाफ' लेखक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।

आज के फ्रेंच-उपन्यासों में मजदूर-जीवन का चित्रण अधिक मिलता है। उनकी कथावस्तु भी बहुत विस्तृत नहीं होती, किन्तु उनमें कलात्मकता और संगठन का अभाव नहीं।

रूसी उपन्यास की परम्परा बहुत प्राचीन नहीं। पुश्किन और गोगल के आविर्भाव के अनन्तर रूसी उपन्यास का समुचित विकास आरम्भ हुआ। पुश्किन मुख्य रूप से कवि था किन्तु उसका प्रभाव रूसी साहित्य के प्रत्येक अंग पर पड़ा। तुर्गनेव, टाल्स्टाय तथा डोस्टावेस्की के आविर्भाव के साथ ही रूसी उपन्यास विश्व-साहित्य में श्रेष्ठतम स्थान का अधिकारी हो गया।

तुर्गनेव बहुत समय तक फ्रांस में रहा, वहाँ प्रायः सभी बड़े-बड़े लेखक उसके मित्र थे। इसी कारण उसकी रचनाओं पर फ्रेंच-साहित्य का प्रभाव अधिक दृष्टि-गोचर होता है। उसके उपन्यास यथार्थवादी हैं, किन्तु उनमें शिष्टता या शालीनता का अभाव नहीं। तुर्गनेव के उपन्यासों का वर्णन बहुत सजीव और चित्रात्मक शैली का होता है। पढ़ते समय सम्पूर्ण दृश्य आँखों के सामने चलचित्र

की भाँति घूम जाते हैं। तुर्गनेव ने कथानक पर अधिक बल नहीं दिया, पात्रों का चरित्र-चित्रण ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा। किन्तु पात्रों को उसने स्वयमेव विकसित होने दिया, उन्हें किसी विशिष्ट ढाँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं किया। उसके पात्र हमारे लिए बहुत परिचित-से होते हैं। 'फादर्स एण्ड सन्ज़', 'वर्जिन सायल' और 'लीजा' तुर्गनेव के श्रेष्ठतम उपन्यास हैं। अमरीकन आलोचक कार्ल एच० ग्रेवो ने तुर्गनेव के विषय में लिखा था कि वह उपन्यास-लेखकों का लेखक था।

डोस्टावेस्की रूस का महान् कलाकार है। अपने जीवन में उसने बहुत भयंकर अनुभव किये थे। वह सेना में रह चुका था, उसे मृत्यु-दण्ड दिया जा चुका था, और बहुत समय तक वह साइबेरिया में निर्वासित रहा। डोस्टावेस्की अध्यात्म-प्रधान भावनाओं वाला व्यक्ति था। आध्यात्मिक भावनाओं के प्रसार द्वारा ही वह विश्व में शान्ति-स्थापन की आशा करता था। अपने उपन्यासों में लेखक ने जीवन की रहस्यात्मकता पर प्रकाश डाला है और उसके विश्लेषण का प्रयत्न किया है। जीवन के सूक्ष्म भावों तथा मनोवृत्तियों का निर्देशन लेखक ने बड़ी ही कुशलता से किया है। डोस्टावेस्की का प्रत्येक पात्र शक्तिशाली व्यक्तित्व-सम्पन्न है। वे उपन्यास में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं, और सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों तथा विषमताओं का विरोध करते हुए अपने निश्चयों और आदर्शों पर दृढ़ रहते हैं। जीवन का अध्यात्म-प्रधान और रहस्यपूर्ण चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। डोस्टावेस्की के उपन्यासों में 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट', 'इडियट' 'दी हाउस ऑफ़ डेड्स' तथा 'कैरा मेजाव ब्रदर्स' विशेष प्रसिद्ध हैं।

टाल्स्टाय 'वार एण्ड पीस' के प्रकाशन के पश्चात् विश्व के महानतम उपन्यासकारों में गिना जाने लगा। टाल्स्टाय का एक विशिष्ट आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण था, उसने जीवन की आन्तरिकता को अच्छी तरह से अनुभव किया था। बहुत देर तक विलासमयी जिन्दगी बिताने के पश्चात् उसका झुकाव आदर्श-प्रधान जीवन-दर्शन की ओर हुआ। इसी कारण उसके उपन्यासों में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का आधिक्य और आदर्शवाद का प्राधान्य दृष्टिगत होता है।

टाल्स्टाय के उपन्यासों का घटना-क्रम सुसंगठित और धारा-प्रवाहमय होता है, प्रत्येक घटना एक क्रम से घटित होती है, वह एक विशिष्ट वातावरण और दृश्य

को अपने साथ सम्बन्धित किये रखती है। टाल्स्टाय के उपन्यासों में दृश्यों का वर्णन बड़ी सूक्ष्मता और सजीवता से किया गया है। चरित्र-चित्रण की प्रणाली भी टाल्स्टाय की अपनी थी, उसका प्रत्येक पात्र अपने पृथक् व्यक्तित्व के साथ उपन्यास में पृथक् स्थान का अधिकारी होता है। सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत उपयुक्त और स्पष्ट है। कला-वर्णन की शैली में भी टाल्स्टाय ने नवीन आविष्कार किये। कथानक विभिन्न पात्रों में विभक्त होता है, किन्तु एकता का सूत्र सभी में विद्यमान रहता है। टाल्स्टाय के उपन्यासों में जीवन को उसकी वास्तविकता में चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। उनमें जीवन को समझने की एक विशिष्ट उत्सुकता रहती है। 'अन्ना करेनिना' तथा 'रिजरेक्शन' भी लेखक के उत्कृष्ट उपन्यास हैं।

मैक्सिम गोर्की रूस का महान् यथार्थवादी उपन्यासकार है। उसके आविर्भाव से पूर्व के उपन्यासों में समाज के उच्च और अभिजात्य वर्ग की विलासिता, ईर्ष्या-द्वेष, तथा पारस्परिक द्वन्द्वों का चित्रण रहता था। किन्तु गोर्की ने अपनी रचनाओं में एक भिन्न मार्ग को ग्रहण किया, उसने समाज के निम्न वर्ग का मानसिक अनुभूतियों तथा उनके दरिद्रतापूर्ण जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। गोर्की अपने व्यापक दृष्टिकोण तथा कर्मठता के कारण रूसी जनता में बहुत प्रिय रहा है। 'मदर' गोर्की की अमर रचना है।

गोर्की के पश्चात् रूसी उपन्यासकार दो विभिन्न धाराओं में बंट गए हैं, एक तो यथार्थवादी और दूसरे आदर्शवादी। आदर्शवादी कलाकारों में **इवान बनिन**, **आता शिवेन** तथा **एण्ड्रयवि** प्रसिद्ध हैं।

अंग्रेजी उपन्यास फ्रेंच तथा रूसी उपन्यास-साहित्य के मुकाबले में अधिक समृद्ध नहीं, वस्तुतः वे उनसे पीछे रह जाते हैं। अंग्रेजी भाषा के प्रारम्भिक उपन्यासों में कल्पित कथाओं का प्राचुर्य रहता था। उनमें रोमांस तथा कौतूहल की प्रधानता होती थी। १३वीं शताब्दी के मध्य में डेनियल डीफो, जान बयियन, स्विफ्ट तथा एडिसन ने अंग्रेजी-उपन्यास की नींव डाली। **जान बयियन** का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrims Progress) बहुत प्रसिद्ध है। **डेनियल डीफो** का लिखा हुआ 'राबिन्सन क्रूसो' भी बहुत प्रसिद्ध है, और वही वस्तुतः वास्तविकरूप में अंग्रेजी भाषा का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जाता है। **स्विफ्ट** (Jonathem Swift) बहुत प्रसिद्ध व्यंग-लेखक था, 'गुलीवर्स ट्रैवल्स'

(Gullewers Travells) उसकी प्रसिद्ध व्यंग्य कृति है। एडिसन ने अपने पत्र 'स्पैक्टेटर' (Spactater) द्वारा चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया।

रिचर्ड्सन (Richardson) चरित्र-प्रधान उपन्यासों का श्रीगणेश करने वालों में सर्वप्रमुख है। रिचर्ड्सन युवावस्था में अनेक युवतियों से प्रेमपूर्ण पत्र-व्यवहार करता रहा, उससे उसमें प्रेम-प्रधान उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति जागृत हुई। उसके उपन्यासों के कथानक जीवन की वास्तविकताओं के अधिक निकट हैं। किन्तु उसमें भावुकता अधिक थी। फिर भी अंग्रेजी उपन्यासों पर ये विदेशी उपन्यासों के प्रभाव को दूर करने का उसने विशेष प्रयत्न किया। रिचर्ड्सन के उपन्यासों में 'पमीला' (Pamela) बहुत प्रसिद्ध है।

हेनरी फिल्डिंग (Henry Fielding) रिचर्ड्सन से विशेष रूप से प्रभावित था। किन्तु वह न तो रिचर्ड्सन की भावुकता को ही पसन्द करता था और न उसकी चरित्र-चित्रण की पद्धति को ही। फिल्डिंग का विचार था कि कथा-वस्तु के निर्माण तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए विशेष अनुभव तथा ज्ञान की आवश्यकता है। विशेष अध्ययन के बिना सशक्त पात्रों का निर्माण असम्भव है। फिल्डिंग के पात्र अपने समय के सामाजिक आदर्शों के प्रतिनिधि हैं। इसका पात्र वस्तुतः बहुत पूर्ण और आकर्षक है। थैकरे ने कहा था कि फिल्डिंग को ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा प्राप्त थी।

स्टर्न (Lawrence Sterne) के उपन्यासों में हास्य की प्रधानता है। समाज की प्रचलित रूढ़ियों के प्रति उसके मन में तीव्र असन्तोष था। 'डिस्ट्रेस सेंसि' नामक उपन्यास में स्टर्न ने अपनी प्रतिभा तथा मौलिकता के बल पर ऐसी क्रान्तिकारी तथा विद्रोही भावनाओं को भरा कि वह शीघ्र ही विश्व-विख्यात हो गया।

स्मॉलेट्ट (Smollett) को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का पर्याप्त अनुभव था। उसका पहला उपन्यास 'रोडेरिक रैण्डम' है। इसमें लेखक ने बहुत निपुणता से पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। इसमें हास्य रस की प्रधानता है।

ओलिवर गोल्डस्मिथ (Oliver Goldsmith) बहुत आकर्षक और विचित्र प्रकृति का लेखक था। 'विकार ऑफ वेकफील्ड' (Vicar of Wakefield) उसका सर्व प्रसिद्ध उपन्यास है। इसमें इंग्लैण्ड के पारिवारिक

जीवन का हास्य-व्यंग्य-पूर्ण चित्रण किया गया है।

सर वाल्टर स्काट (Sir W. Scott) ने बहुत-से ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। बचपन से ही स्काट को अपने देश के ग्राम्य-जीवन और उसकी आन्तरिक परिस्थितियों से परिचित होने का अवसर प्राप्त हो गया था, इसी कारण उसके उपन्यासों का प्रकृति-चित्रण बहुत सजीव बन पड़ा है। स्काट के उपन्यासों का कथानक बहुत जटिल होता है, उसमें अनेक समान महत्व के पात्र एक साथ उपस्थित हो जाते हैं, जो कि विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन जाते हैं। किंतु यह पात्र स्काटिश जीवन के विभिन्न अङ्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ अनावश्यक पात्रों का समावेश भी हो गया है। स्काट उपन्यास का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही समझता था, इसी विचार के अनुरूप उसने अपने उपन्यासों को बनाने का प्रयत्न किया है। 'सर टिस्ट्रेम', 'विवर्ली' तथा 'आइवन हो' इत्यादि स्काट के प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

जेन आस्टिन (Jane Austin) बहुत संयत तथा शांत स्वभाव की युवती थी। उसने 'प्राइड एंड प्रेज्यूडिस' (Pride and Prejudice) और 'सेन्स एण्ड सेन्सिबिलिटी' (Sense and Sensibility) नामक दो उत्कृष्ट उपन्यास लिखे हैं। आस्टिन द्वारा चित्रित जीवन के चित्र बहुत सजीव और स्पष्ट हैं। उसने सामाजिक समस्याओं की सूक्ष्म समीक्षा की है।

विलियम मेकपीस थैकरे (W. M. Thackeray) और चार्ल्स डिकेन्स (Charles Dickens) १९वीं शताब्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। थैकरे ने सामाजिक दुर्बलताओं का बहुत व्यंग्यात्मक शैली में उल्लेख किया है। सामाजिक कुरीतियों की उसने कड़ी आलोचना भी की है। 'वैनटी केयर' में लेखक ने उद्दण्ड युवकों और दुष्ट प्रकृति के पात्रों का बहुत सजीव और सुन्दर विश्लेषणात्मक चित्रण किया है। थैकरे के उपन्यास उसके व्यक्तित्व से विशेष रूप में प्रभावित हैं। 'दी न्यू कम्स', 'हेनरी एसमैड' तथा 'दी वरजीनियन्स' थैकरे के प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

डिकेन्स ने अपने उपन्यासों में निम्न तथा मध्य श्रेणी के जीवन को चित्रित किया है। 'डैविड कापर फील्ड' तथा 'टेल्स ऑफ़ टू सिटीज' डिकेन्स के विख्यात उपन्यास हैं। लेखक के उपन्यासों के कथानक अत्यन्त जटिल हैं। जीवन की रहस्यमयता उनमें सर्वत्र प्राप्य होती है। डिकेन्स एक समाज-सुधारक

था, अतः कहीं-कहीं उसके उपन्यासों में सुधारवादी प्रवृत्ति दिखाई दे जाती है ।

डी० एच० लॉरेन्स तथा एडोल्फ हक्सले ने अपने उपन्यासों में मानव की कायिक वृत्तियों पर विशेष प्रकाश डाला है । सामयिक युग के प्रसिद्ध उपन्यास-कारों में वर्जोनिया बुल्फ, डब्ल्यू० एस० मौघम डेविड गार्नेट विशेष स्थान के अधिकारी हैं ।

आधुनिक युग के प्रारम्भ में अंग्रेजी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता हो गई है । पात्रों की आंतरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण और उसके चेतन और उपचेतन की व्याख्या आज के युग के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है । जार्ज इलियट, टामरा हार्डी, हेनरी जेम्स, स्टिवेन्सन, जार्ज मेरेडिथ आदि आधुनिक युग के प्रमुख उपन्यासकार हैं ।

इस युग में मनुष्य-जीवन बहुत जटिल और अव्यवस्थित हो चुका है, उसके सम्मुख अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ हैं । आज के उपन्यासों में जीवन की यह जटिलता प्रतिबिम्बित हो रही है । व्यक्ति तथा समाज की इन समस्याओं को मनोविज्ञान की सहायता द्वारा सुलभाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं । उपन्यास भी इन प्रयत्नों से विशेष प्रभावित है ।

पाँच : कहानी

१. परिभाषा

कहानी आज साहित्य में एक स्वतन्त्र कला के रूप में विकसित हो चुकी है। लोकप्रियता में तो वह आज साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ़ी हुई है। अपने आधुनिक रूप में कहानी, उपन्यास की अनुज्ञा होती हुई भी अपने स्वतन्त्र कलात्मक विकास द्वारा साहित्य में विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी समझी जाती है।

कथा-साहित्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम कहाँ और किस रूप में हुई, यह आज बता सकना अत्यन्त कठिन है, किन्तु इसका अस्तित्व बहुत पुराना है; और यह सर्वकाल तथा सर्वदेश में विद्यमान थी, इतना तो निर्विवाद रूप से सर्वमान्य है। साहित्य के अन्य अंगों की भाँति कथा-साहित्य का रूप भी देश, काल तथा परिस्थितियों की विभिन्नता के अनुसार विकसित होता रहा है। आज वह जिस रूप में प्रचलित है, वह उसके प्राचीन रूप से पर्याप्त विभिन्न और विकसित है।

कहानी, गल्प, लघु-कथा अथवा आख्यायिका एक ही वस्तु है, और उनका रूप भी एक ही है। आज की कहानी जिस विकसित रूप में प्राप्त है। उसकी व्याख्या करना अथवा उसे परिभाषा के एक निश्चित आकार में बाँध देना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि एक तो वह निरन्तर विकासशील है, और दूसरे उसके मूल में अनेक विभिन्न तत्त्व (Elements) कार्य कर रहे हैं, जो कि परिभाषा में नहीं बाँध सकते। इसीलिए प्रत्येक आलोचक या लेखक ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार कहानी की परिभाषा की है। गल्प-साहित्य को प्राधुनिकतम रूप प्रदान करने वालों में से अमरीका के सुप्रसिद्ध गल्पकार एडगर एलिन पो प्रमुख हैं। उन्होंने कहानी की परिभाषा इस प्रकार की है :

छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए

लिखा गया हो। उसमें ऐसी बातों को त्याग दिया जाता है जो उसकी प्रभावोत्पादकता में बाधक हों। वह स्वतः पूर्ण होती है।^१

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार मुंशी प्रेमचंद कहानी की रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित करते हैं : गल्प ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहत् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक ऐसा गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है। बा० श्यामसुन्दरदास ने कहानी में नाटकीय तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान करते हुए लिखा है कि : आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।

इसी प्रकार आख्यायिका की अनेक परिभाषाएँ यहाँ पर उद्धृत की जा सकती हैं। किन्तु कहानी वस्तुतः इन सभी परिभाषाओं में निर्दिष्ट की जाती हुई भी अपनी विकासशीलता के कारण स्वतन्त्र है। हाँ, आधुनिक कहानी के रूप के लिए उपर्युक्त परिभाषाएँ पर्याप्त रूप में सहायक हो सकती हैं। वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के युग में जिस प्रकार आज गीति-काव्य की प्रमुखता है, उसी प्रकार आज के इस अत्यधिक संलग्नता के समय कथा-साहित्य में कहानी को सर्वप्रियता प्राप्त है। कहानी आज के अपने विकसित रूप में गीति-काव्य के अधिक निकट है। जिस प्रकार गीत मनुष्य के भाव-जगत् के अनन्त रूपों में से किसी एक की ही अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार कहानी भी मनुष्य के जीवन के विविध रूपों में से एक रूप की ही अभिव्यक्ति-मात्र है। गीति-काव्य के समान कहानी में भी वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता होती है, और वैसी ही तन्मयता।

परन्तु गीति-काव्य का क्षेत्र भाव-जगत् से सम्बन्धित है, जब कि कहानी में

१. A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting written to make an impression, on the reader, excluding all that does not forward that impression complete and final in itself.

भावाभिव्यक्ति के साथ घटनाओं का चित्रण किया जाता है। गीति-काव्य में भाव-प्रकाशन स्वतन्त्र रूप से होता है, किन्तु कहानी में आलम्बन द्वारा। गीति-काव्य की अपेक्षा कहानी में घटना और तथ्य-निरूपण की प्रधानता रहती है। फिर भी कहानी में वैयक्तिकता की प्रमुखता है। इस प्रकार कहानी का स्वरूप गीति-काव्य के समान स्वतः पूर्ण होता है, उसमें वैयक्तिकता की प्रधानता होती है, और पात्रों के समावेश, चरित्र-चित्रण और निरूपण द्वारा एक ही घटना तथा तथ्य का वर्णन करते हुए प्रभावात्मक ढंग से निश्चित उद्देश्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

२. कहानी के तत्त्व (The elements of story)

कहानी का निर्माण कुछ विभिन्न तत्त्वों के आधार पर होता है। यहाँ हम इन्हीं आवश्यक तत्त्वों पर विचार करेंगे—

(१) कथावस्तु (Plot)—वस्तुतः कहानी के शरीर में कथावस्तु हड्डियों के सदृश है। यदि भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण या शैली इत्यादि सब तत्त्व कहानी में विद्यमान हों और कथावस्तु (Plot) विद्यमान न हो तो वह कहानी अस्थिर-रहित शरीर के सदृश होगी।

कथावस्तु की रचना अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से और क्रमिक विकास के रूप में होनी चाहिए। प्रत्येक घटना के आगमन से पूर्व उसके कारणों का विवेचन रहता है। इसी प्रकार पात्र के कार्यों का विवरण देने से पूर्व उसका मन्तव्य स्पष्ट कर दिया जाता है। इसी आधार पर अधिष्ठित प्लॉट—कथानक—सम्मिलित रूप से लेखक के एक निश्चित मन्तव्य की अभिव्यक्ति करता है। इनमें घटनाओं की प्रमुखता होती है। कथावस्तु के मुख्य भाग इस प्रकार है—(१) प्रस्तावना-भाग, (२) मुख्यांश, (३) क्लाइमेक्स तथा (४) पृष्ठ भाग।

१. प्रस्तावना भाग में संक्षेप से पात्रों का वैयक्तिक परिचय दे दिया जाता है। उनकी चारित्रिक विशेषताओं के वर्णन के साथ-साथ कथानक की घटनाओं के साथ उनका सम्बन्ध भी बतला दिया जाता है। वातावरण, सामाजिक स्थिति और अन्य आवश्यक तथ्यों का वर्णन प्रस्तावना में ही हो जाता है। यह वर्णन प्रायः वार्तालाप, संकेत अथवा विवरण द्वारा होता है।

२. मुख्यांश में कथा का वह संघर्ष—क्षीण अथवा प्रबल रूप में—प्रारम्भ हो जाता है, जो कि क्लाइमेक्स पर पहुँचकर चरम सीमा को प्राप्त करता

करता है। वस्तुतः प्रस्तावना में तो परिचय रहता है, और मुख्यांश में घटनाओं का उत्थान प्रारम्भ होता है, जो कि आगे चलकर उग्र रूप धारण कर लेता है। संघर्ष की स्थिति स्वाभाविक रूप से उपस्थित होकर उसका विकास पात्रों की स्थिति और चरित्रों के अनुकूल होना चाहिए। संघर्ष का अप्राकृतिक उद्गम पाठक में कहानी और उसके वातावरण के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगा।

३. क्लाइमेक्स (Clymex) में संघर्ष और पाठक के औत्सुख्य की चरम सीमा हो जाती है। जिस परिस्थिति, घटना और संघर्ष का प्रारम्भ प्रस्तावना से होकर मुख्यांश में वृद्धि को प्राप्त होता है वह क्लाइमेक्स में आकर चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है। कहानी का सम्पूर्ण घटना-चक्र, वातावरण तथा चरित्र-चित्रण इत्यादि सभी उपादान क्लाइमेक्स की तैयारी में योग देते हैं। सम्पूर्ण घटनाएँ इसी केन्द्र की ओर बढ़ती हैं। यहाँ चरम सीमा पर पहुँचकर अप्रत्याशित रूप से पाठक के कौतूहल का चमत्कारिक ढंग से अन्त प्रारम्भ होता है।

४. पृष्ठ भाग में कहानी का परिणाम निहित रहता है। वातावरण, घटना और चरित्रों के पूर्ण विकास के अनन्तर कथा का अन्त होता है। पृष्ठ भाग में ही सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन कर दिया जाना चाहिए। हाँ, कुछ रहस्यमयी कहानियों में यह परिणाम स्पष्ट नहीं होता।

आजकल की कहानियों में कहीं-कहीं कथानक की समाप्ति क्लाइमेक्स पर पहुँचकर ही हो जाती है।

कथावस्तु (Plot) में अनावश्यक घटनाओं, असम्बन्धित तथ्यों और अस्वाभाविकता का समावेश नहीं होना चाहिए।

कथावस्तु का चुनाव जीवन की किसी भी घटना से किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति आवश्यक है। नगण्य-से-नगण्य वस्तु भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति के आधार पर उत्कृष्ट कथावस्तु का आधार बन सकती है। मौलिकता के साथ-साथ कथावस्तु में सुसम्बद्ध योजना (Proportionate setting) आवश्यक है।

(२) चरित्र-चित्रण आज की कहानियों में कथानक से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर रहा है। कहानियों में पात्र के सम्पूर्ण चरित्र पर प्रकाश नहीं डाला जाता वरन् उसके चरित्र के ऐसे अंशों को ही प्रकाशित किया जाता है जिनसे कि

कहानी

उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व जाज्वल्यमान हो उठता है । वस्तुतः आज वही कथा सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है, जिसमें कि लेखक पात्रों का चरित्र-चित्रण करता हुआ किसी मनोविज्ञानिक सत्य की याख्या करे । सफलतापूर्वक चरित्र-चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि लेखक को मनोविज्ञान का विशेष ज्ञान हो । वह उनकी आन्तरिक वृत्तियों में प्रविष्ट होकर उनके विशद अध्ययन द्वारा सूक्ष्म चित्रण करे । यद्यपि सम्पूर्ण पात्र लेखक की कल्पना की उपज होते हैं, किन्तु यदि वे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व न रखते हों और लेखक के ही कठपुतले हों तो वे व्यर्थ और अरुचिकर होंगे । पाठक उनके प्रति आकृष्ट नहीं हो सकेगा । सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार विलियम थैकरे ने लिखा है कि मेरे पात्र मेरे वश में नहीं रहते वरन् मेरी लेखनी उन पात्रों के वश में हो जाती है । वस्तुतः पात्रों के स्वाभाविक और सजीव चित्रण के लिए लेखक को अपना व्यक्तित्व पात्रों पर आरोपित नहीं करना चाहिए । उसे अपने व्यक्तित्व को उनसे सर्वथा पृथक् ही रखना चाहिए । चारित्रिक विकास को उपस्थित करने के लिए पात्र की वैयक्तिक, मानसिक और सामाजिक परिस्थितियों का विवरण भी पर्याप्त सहायक हो सकता है ।

चरित्र-चित्रण के चार प्रमुख प्रकार हैं—(१) वर्णन द्वारा, (२) संकेत द्वारा, (३) वार्तालाप द्वारा, और (४) घटनाओं द्वारा ।

वर्णन द्वारा जो चरित्र-चित्रण किया जाता है वह प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक (Direct or Analytic) कहलाता है । विश्लेषणात्मक ढंग द्वारा लेखक स्वयं पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालता है । एक उदाहरण देखिए :

वह पचास वर्ष से उपर था । तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था । चमड़े पर झुरियाँ नहीं पड़ी थीं । वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह मुक्त मानता था । उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डंक की तरह देखने वालों की आँखों में झुभती थीं । उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था । उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता । कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप के मूठ का बिछ्छूरा खोसा रहता था । उसके घुंघरासे बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता । ऊँचे कंधे पर टिका हुआ चौड़ी धार का

गडासा, यह था उसकी धज । पंजों के बल जब वह चलता, उसकी नसें छटा-
छट बोलती थीं । वह गुण्डा था । (प्रसाद)

चरित्र-चित्रण की वर्णनात्मक प्रणाली की अपेक्षा संकेतात्मक प्रणाली को आज अधिक उपयुक्त और कलात्मक समझा जाता है । संकेतात्मक प्रणाली व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं के उल्लेख में अधिक उपयुक्त होती है, क्योंकि लेखक चरित्र-चित्रण के इस प्रकार में स्वयं कुछ न कहकर सम्पूर्ण परिणाम से अवगत होने का उत्तरदायित्व पाठक पर ही छोड़ देता है । वह केवल-मात्र पात्रों की चारित्रिक वृत्तियों का ही उल्लेख करता है । एक उदाहरण देखिए :

वह अभी-अभी जागे थे और पै-दर-पै जम्भाइयाँ लेते हुए पूरी तरह सचेत होने के लिए समाचार-पत्र और प्याली-भर चाय का इन्तजार कर रहे थे । सूर्य क्षितिज की ओट में से उभर आया था और उसकी सुनहली रश्मियाँ मोर-पंख की तरह आकाश पर बिखर रही थीं, पूर्व की ओर तमाम खिड़कियाँ सोने की तरह जगमगा रही थीं । परन्तु यह चमक केवल खिड़कियों के बाहर ही थी । कमरों के भीतर पहुँचने तक यह प्रकाश भी ईश्वरवास के जीवन की भाँति मैला और ज्योति-शून्य हो जाता था ।

वार्तालाप द्वारा चरित्र-चित्रण का ढंग परोक्ष या नाटकीय (Indirect or Dramatic) चरित्र-चित्रण के लिए अधिक उपयुक्त है । वार्तालाप द्वारा जहाँ पात्र एक दूसरे के चरित्र को स्पष्ट करते हैं वहाँ वे अपनी कथन-शैली, भाव-भंगिमा और भाषा द्वारा अपने चरित्र की व्याख्या भी कर देते हैं । लेखक इसमें अपने-आप कुछ नहीं कहता । पात्रों को अपने चरित्र-विश्लेषण करने की भी स्वतन्त्रता होती है, और दूसरे पात्रों के प्रति सांकेतिक शब्द कहकर उनकी व्याख्या की भी ।

कहानी में घटना-क्रम की वृद्धि के लिए वार्तालाप का प्रयोग उपयुक्त नहीं होता, पात्रों की विशिष्ट मनोवृत्ति के प्रदर्शन के लिए वार्तालाप का आश्रय ग्रहण करना ही उपयुक्त होता है । व्यर्थ के लम्बे वार्तालाप, निर्जीव, शुष्क और बोझल हो जाते हैं । प्रेमचन्द जी की 'इस्तीफा' इत्यादि अनेक कहानियों में वार्तालाप के सुन्दर ढंग से चरित्र-विश्लेषण किया गया है ।

कहानी में कोई-न-कोई घटना तो रहती ही है, किन्तु सामान्यतः छोटी-छोटी घटनाएँ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक होती हैं । ये छोटी-छोटी

घटनाएँ मुख्य घटना के लिए पूरक के रूप में ही कार्य करती हैं। किन्तु ये घटनाएँ अप्रासंगिक नहीं होनी चाहिएँ और न ही बहुत लम्बी। मुख्य घटना के साथ इनका पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। वार्तालाप और घटनाओं के सम्मिश्रण द्वारा चरित्र-चित्रण का ढंग ही उपयुक्त माना जाता है। इस प्रकार कथा का घटना-प्रवाह तो अक्षुण्ण रहता ही है, साथ ही उनके चरित्र का क्रमिक विकास भी बहुत सुन्दर ढंग से उपस्थित हो जाता है।

(३) कथोपकथन पात्रों के चरित्र-चित्रण में तो सहायक होना ही है किन्तु कथानक का भी वह एक आवश्यक गण है; क्योंकि कथा की स्वाभाविकता के लिए कथोपकथन का समावेश आवश्यक है। कथोपकथन द्वारा ही हम पात्रों के दृष्टिकोण, आदर्श तथा उद्देश्य से परिचित हो सकते हैं। वार्तालाप को स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने में हम बड़ी सुगमता से सम्पूर्ण परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कहानी में वस्तुतः कथोपकथन निम्न लिखित तीन कार्यों में बहुत सहायक होता है—(क) चरित्र-चित्रण में, (ख) घटनाओं को गतिशील बनाने में, और (ग) भाषा-शैली का निर्माण करने में।

कथोपकथन कहानी में प्रवाह, सजीवता और औत्सुक्य को उत्पन्न करता है। किन्तु कथोपकथन द्वारा इन गुणों को उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्र और परिस्थिति के अन्कूल हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो पात्रों का चरित्र-चित्रण अस्पष्ट और भ्रामक होगा। फिर कथोपकथन में फालतू अंश नहीं होने चाहिएँ। पात्रों के मुख से लम्बे-लम्बे अभिभाषण कराने से कथा का प्रवाह भंग हो जाता है, और कथानक में शिथिलता आ जाती है। उपन्यास के कथोपकथन की अपेक्षा कहानी के कथोपकथन में अधिक संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता है। कथोपकथन द्वारा अन्तर्द्वन्द्व के अतिरिक्त मानसिक उत्कर्ष (Psychological growth) का भी सुन्दर चित्रण हो सकता है। वार्तालाप जितने भी अधिक मनोभावों के अनुकूल होंगे उतने ही अधिक वे कलात्मक और उत्कृष्ट होंगे। इस उदाहरण में देखिए :

घर में जाते ही शारदा ने पूछा—किस लिए बुलाया था, बड़ी देर हो गई।

फतहचन्द ने चारपाई पर लेटते हुए कहा—नशे की सनक थी और क्या ? शंतान ने मुझे गालियाँ दीं, जलील किया, बस यही रट लगाए हुए था कि देर क्यों की ? निर्दयी ने चपरासी से मेरा कान पकड़ने को कहा।

शारदा ने गुस्से में आकर कहा—तुमने एक जूता उतारकर दिया नहीं सूअर को ?

फतहचन्द—चपरासी बहुत शरीफ है। उसने साफ कह दिया हज़ूर मुझसे यह काम न होगा। मैंने भले आदमियों की इज्जत उतारने के लिए नौकरी नहीं की थी। वह उसी वक्त सलाम करके चला गया।

शारदा—यह बहादुरी है। तुमने उस साहब को क्यों नहीं फटकारा ?

फतहचन्द—फटकारा क्यों नहीं—मैंने भी खूब सुनाई। वह छड़ी लेकर दौड़ा—मैंने भी जूता सँभाला। उसने मुझे कई छड़ियाँ जमाईं—मैंने भी कई जूते जमाए।

शारदा ने खुश होकर कहा—सच ? इतना-सा मुंह हो गया होगा उसका।

फतहचन्द—चेहरे पर भाड़ू-सी फिरी हुई थी।

शारदा—बड़ा अच्छा किया तुमने, और मारना चाहिए था। मे होती, तो बिना जान लिये न छोड़ती।

['इस्तीफा'—प्रेमचन्द]

भावनात्मक कहानियों का कथोपकथन स्वाभाविक कम और कवितामय अधिक होता है। किन्तु सम्पूर्ण कथा-प्रवाह में वह उपयुक्त बन जाता है। एक उदाहरण देखिए :

धीवर-बाला आकर खड़ी हो गई। बोली—मुझे किसने पुकारा ?

मैंने।

क्या कहकर पुकारा ?

सुन्दरी।

क्यों, मुझमें क्या सौन्दर्य है ? और है भी कुछ तो क्या तुमसे विशेष ?

हाँ, आज तक किसी को सुन्दरी कहकर नहीं पुकार सका था; क्योंकि यह सौन्दर्य-विवेचना मुझमें अब तक नहीं थी।

आज अकस्मात् यह सौन्दर्य-विवेक तुम्हारे हृदय में कहाँ से आया ?

तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य-तृष्णा जाग गई।

['समुद्र-संतरण'—प्रसाद]

अधिक भावकतापूर्ण और कवित्वमय कथोपकथन कहानियों के स्वाभाविक

प्रवाह में बाधक ही बन जाता है।

(४) देश, काल तथा वातावरण—इसका चित्रण उपन्यास में तो होता ही है, कहानी में भी उसकी आवश्यकता रहती है, यद्यपि उससे कम। घटना तथा पात्रों से सम्बन्धित स्थान, काल और वातावरण का चित्रण कथाकार भी करता है, किन्तु उपन्यासकार की अपेक्षा संक्षेप से। देश, काल तथा वातावरण के चित्रण बहुत स्वाभाविक, आकर्षक और यथासम्भव पात्रों की मानसिक परिस्थिति के अनुकूल होने चाहिए।

(५) वर्णन-शैली—यह कहानी के सभी तत्त्वों से सम्बन्धित होती है, और शब्द तथा भाव दोनों के वर्णन में वह लेखक के व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित कर देती है। कहानी की वर्णन-शैली अत्यन्त आकर्षक, प्रवाहमयी और धारावाहिक होनी चाहिए। अपनी वर्णन-शैली द्वारा गूढ़-से-गूढ़ भावनाओं को और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में ही लेखक की सफलता है। लक्षणा, व्यंजना इत्यादि शब्द-शक्तियाँ तथा अलंकार और मुहावरे इत्यादि वर्णन-शैली के संवर्धन के लिए सहायक उपकरण के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। हास्य, व्यंग्य, प्रवाह और चित्रोपमता इत्यादि शैली की अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं।

वर्णन-शक्ति (Power of Description) और विवरण-शक्ति (Power of narration) दोनों ही वर्णन-शैली के लिए आवश्यक हैं। संगति और प्रभाव की एकता (Unity of Impression) भी कहानी के लिए आवश्यक है। इन सभी तत्त्वों के सम्मिश्रण से कहानी में कौतूहल और औत्सुक्य की भावना को जाग्रत रखा जा सकता है। भाषा की सजीवता और शक्तिमत्ता कथा में गतिशीलता को उत्पन्न कर देती है। वर्णन-शैली की उत्कृष्टता के लिए यह आवश्यक है कि भाषा सजीव और मुहावरेदार हो। भाषा में भी चित्रोपमता के लिए अलंकारों का प्रयोग सुविधापूर्वक हो सकता है।

विचार, भाव और अनुभूतियाँ अपनी अखण्ड सत्ता रखती हैं, वे त्रिकाल में एक ही रही हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के साधन-भाषा अथवा वर्णन-शैली—में अन्तर होता है। वर्णन-शैली की नवीनता ही लेखक की मौलिकता और नवीनता होती है। अपने युग के आदर्शों तथा भावनाओं से वह प्रभावित हुए

बिना नहीं रह सकता। वस्तुतः वह अपने युग के आदर्शों को ही अभिव्यक्त करता है। इस अभिव्यक्ति का ढंग ही उसका अनुरूप है।

कहानियों के विषय के अनुरूप ही लेखन-शैली भी परिवर्तित हो जाती है। व्यंग्य-प्रधान कहानियों की शैली व्यंग्यपूर्ण होती है, और भावात्मक तथा वर्णनात्मक कथाओं में भावुकता और विवरण की प्रधानता होती है। किन्तु प्रत्येक लेखक अपनी वैयक्तिक शैली का विकास स्वयं करता है, वह अपने आदर्शों के अनुरूप ही अपनी भाषा तथा वर्णन-शैली का निर्माण करता है। हिन्दी में प्रसाद और मुन्शी प्रेमचन्द की शैलियाँ अपनी वैयक्तिक रुचियों की परिचायिका हैं।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त भावुकता (Emotion), संवेदना (Sentiment), अलौकिकता (Fantasy) और हास्य (Humour) को भी कहानी के आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। किन्तु कहानी के विभिन्न भागों में इनका प्रयोग किस मात्रा में तथा किस रूप में किया जा सकता है इसका निर्णय एक कुशल कलाकार ही कर सकता है। वस्तुतः संवेदना और भावुकता (भाव-तत्त्व) तो साहित्य में कलात्मक सौन्दर्य के लिए आवश्यक हैं। अतः वह कथा, जिसमें भाव-तत्त्व और संवेदन की कमी हो, साहित्य के अन्तर्गत ग्रहीत नहीं की जा सकती। यह तत्त्व अपने वास्तविक रूप में सम्पूर्ण साहित्य के ही आधार हैं।

२. कहानी का ध्येय

कहानी का ध्येय निश्चित रूप से मनोरंजन कहा जा सकता है। किन्तु इस मनोरंजन के पीछे भी एक ध्येय वर्तमान रहता है, यह ध्येय जीवन की किसी मार्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही निहित है। उपन्यासकार या महाकाव्य का कवि यदि सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या करता है। तो कहानीकार मानव-मन के उन तथ्यों को या गहरी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है जो कि जीवन के अन्तरतम से सम्बन्धित होती हैं। वस्तुतः कहानीकार मानव-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालता है। किन्तु यह उद्देश्य आधुनिक कहानियों में व्यक्त न होकर व्यंजित ही होता है। 'हितोपदेश' या उसी ढंग पर लिखी गई प्राचीन कहानियों में कथा कहने के साथ-साथ उपदेश की मात्रा भी विद्यमान रहती थी। आधुनिक कहानियाँ विशिष्ट उद्देश्य की प्रतिपादिका होती

हुई भी उपदेशात्मक नहीं होती ।

आजकल की कहानियों में चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है, अतः किसी भी उद्देश्य की अभिव्यक्ति उसमें स्पष्ट नहीं हो सकती । चरित्र-चित्रण के रूप में या तो मानसिक विश्लेषण किया जाता है या फिर लेखक जीवन-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को प्रकट करता है । जैसे आज का प्रगतिवादी लेखक समाज के वर्तमान संगठन में आमूल चूल परिवर्तन को चाहता है; वह सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के सुख-दुःख, आशा-निराशा और उनकी जीवन-सम्बन्धी अनुभूतियों को साहित्य का विषय बनाकर क्रान्तिकारी भावनाओं के प्रचार द्वारा उनमें जागृति उत्पन्न करना चाहता है । कथा-साहित्य में उसकी यही क्रान्तिकारी विचार-धारा विद्यमान रहती है और उसके साहित्य का उद्देश्य भी क्रान्ति का प्रचार ही रहता है । कुछ कहानीकार वर्तमान सामाजिक समस्याओं की विषमता को चित्रित करके उनके प्रति अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनी कहानियों में चित्रित करते हैं । मनोविश्लेषक कथाकार मानव-मन की गहराई में पैठकर उसकी रहस्यमयी प्रवृत्तियों की व्याख्या को ही अपनी कहानी का उद्देश्य बनाता है । अतः कहानी का व्येय मनोरंजन अवश्य स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु मनोरंजन के अतिरिक्त जीवन-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या भी उद्देश्य के साथ-साथ वर्तमान रहती है ।

५. कहानी का प्रारम्भ और अन्त

कहानी को प्रारम्भ करने के अनेक ढंग हैं । आत्म-कथात्मक, वर्णनात्मक, घटनात्मक, तथा वार्तालाप के रूप में कथा का प्रारम्भ किया जा सकता है । आत्म-कथा के रूप में कहानी लिखना पर्याप्त कठिन है, क्योंकि कथा प्रथम पुरुष (मे) में प्रारम्भ की जाती है, और लेखक अपनी बहुज्ञता का परिचय नहीं दे सकता । आत्म-कथात्मक रूप में लिखी गई कहानियाँ सरल और स्वाभाविक अधिक होती हैं ।

वर्णन से प्रारम्भ होने वाली कहानियों में किसी भी दृश्य, व्यक्ति या वस्तु के वर्णन से कथा का प्रारम्भ किया जा सकता है । जब किसी कथा का प्रारम्भ किसी घटना से किया जाता है तो वहाँ प्रारम्भ में ही श्रौत्सुक्य को जागृत कर दिया जाता है । ऐसी कहानियों को पाठक बहुत चाव से पढ़ते हैं । साधारण वार्तालाप से भी कहानी का प्रारम्भ किया जा सकता है । जैसे :

बन्दी !

क्या है ? सोने दो !

मुक्त होना चाहते हो ?

अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो ।

फिर अवसर न मिलेगा ।

बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता ।

यह ढंग बहुत कलात्मक है, इसमें नाटकीयता की प्रधानता रहती है और कथानक स्वयं वर्तलाप के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है ।

कहानी की प्रारम्भिक पक्तियाँ इतनी आकर्षक होनी चाहिएँ कि वे पाठक को एकदम आकृष्ट कर ले ।

कहानी के प्रारम्भ की भाँति कहानी का अन्त भी महत्वपूर्ण होता है । यदि कहानी का अन्त अस्वाभाविक होगा तो पाठक निश्चय ही उस कहानी से प्रभावित न हो सकेगा, और न ही उसे कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कहा जायगा । अतः कहानी का अन्त बहुत चमत्कारपूर्ण और पाठक पर अस्थायी प्रभाव छोड़ जाने वाला होना चाहिए । कहानी का अन्त जानकर पाठक का हृदय पर्याप्त समय के लिए एक प्रकार की विशिष्ट वेदनामयी अनुभूति से आप्लावित होता रहना चाहिए ।

सम्पूर्ण कथा-प्रभाव को तारतम्य के रूप में बनाये रखने के लिए लेखक की कुशलता का परिचय कहानी के अन्त में ही प्राप्त होता है ।

५. कहानी के स्वरूप तथा कहानी कहने के ढंग

स्वरूप की दृष्टि से कहानी निम्न लिखित भागों में विभाजित हो सकती है—

(१) घटना-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) वर्णन-प्रधान, तथा (४) भाव-प्रधान ।

१. घटना-प्रधान कहानियाँ प्रत्येक काल और देश में निरन्तर प्रचलित रहती हैं । इस प्रकार की कहानियों में चरित्र-चित्रण पर ध्यान नहीं दिया जाता, इनमें घटनाओं का विवरण ही अधिक रहता है । कौतूहल और औत्सुक्य की भावना को जागृत रखना ही इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य होता है । जासूसी कहानियाँ इस ढंग की होती हैं । जिन घटना-प्रधान कहानियों में बाह्य घटनाओं की अपेक्षा

आन्तरिक घटनाओं को अधिक महत्त्व दिया जाता है वही कहानियाँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं ।

२. चरित्र-प्रधान कहानियाँ नवयुग की देन हैं, ये घटना-प्रधान कहानियों से श्रेष्ठ समझी जाती हैं । इनमें मानव-जीवन के विविध स्वरूपों में से एक ही स्वरूप का चित्रण होता है । स्वाभाविक और सजीव चरित्र-चित्रण ही ऐसी कहानियों की विशेषता होती है । मानव-चरित्र की व्याख्या इनका मुख्य उद्देश्य होता है ।

३. वर्णन-प्रधान कहानियों में वर्णन की प्रधानता रहती है । परिस्थिति, काल, देश, वातावरण तथा पात्रों के रंगीन वर्णन द्वारा ही इन कहानियों का प्रारम्भ होता है । चरित्र-चित्रण, घटनाओं के स्वाभाविक विकास और कथानक के प्रवाह की ओर ऐसी कहानियों में लेखक का ध्यान नहीं जाता । इस कारण कथान्तत्त्व की दृष्टि से ये कहानियाँ श्रेष्ठ नहीं गिनी जाती ।

४. भाव-प्रधान कहानियों में मनोभावों का विश्लेषण किया जाता है । मानसिक उतार-चढ़ाव और विभिन्न प्रवृत्तियों के संघर्ष के वर्णन के साथ उनकी विशद व्याख्या की जाती है । ये कहानियाँ साधारण पाठकों के लिए रोचक नहीं होतीं, दार्शनिक विचारों वाले उच्च कोटि के पाठकों के लिए ही वे मूल्यवान होती हैं ।

कहानी कहने की प्रणालियाँ मुख्य रूप से निम्न हैं—

१. ऐतिहासिक या वर्णनात्मक-प्रणाली में लेखक एक द्रष्टा की भाँति सम्पूर्ण कहानी को कहता है । जैसे : 'वेदों ग्राम में महादेव सुनार एक सुविख्यात आदमी था ।' इत्यादि ।

२. आत्म-कथन-प्रणाली में एक ही पात्र सम्पूर्ण कथा को आपबीती के रूप में कहता है । ऐसी कहानियों की यथार्थता बहुत मार्मिक होती है । आजकल हिन्दी में इस प्रकार की कहानियाँ बहुत लिखी जा रही हैं । डायरी के रूप में लिखी गई कथाएँ भी आत्म-कथन-प्रणाली के अन्तर्गत ही ग्रहीत की जायँगी ।

३. कथोपकथन-प्रणाली में भी कहानी लिखी जा सकती है । ऐसी कहानियों में कथोपकथन की सरसता पर विशेष ध्यान दिया जाता है । पात्रों के चारित्रिक विकास और घटनाओं के क्रमिक प्रवाह के लिए भी कहानी की यह प्रणाली सहायक हो सकती है ।

४. पत्रात्मक-प्रणाली में सम्पूर्ण कथा का विकास पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा होता है। कहानी में इस प्रणाली द्वारा तभी सफलता हो सकती है जब कि लेखक पत्रों में किसी भी अनर्गल या व्यर्थ अंश का समावेश न होने दे। पत्रात्मक-प्रणाली में पात्रों के चारित्रिक विकास की गुञ्जाइश कम ही होती है।

कहानी कहने की इन मुख्य प्रणालियों के अतिरिक्त अन्योक्ति, समाचार-पत्र या स्वप्न द्वारा भी कथा कही जा सकती है।

६. कहानी और उपन्यास

कहानी के तत्त्वों का विवेचन ऊपर विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि कहानी और उपन्यास में समान तत्त्व कार्य कर रहे हैं, उनके मूल में ऐक्य है। किन्तु इस ऐक्य के होते हुए भी दोनों के मूल में या उद्देश्य में भेद भी अवश्य है, जो कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् किये हुए है। यह भेद इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. उपन्यास तथा कहानी का सबसे बड़ा अन्तर आकार का है। उपन्यास में पत्रों का विस्तार होता है; घटनाओं, परिस्थितियों तथा देश, काल और वातावरण का अत्यन्त विशद विवेचन किया जाता है, किन्तु कहानी समस्त जीवन के किसी एक मुख्य अंग या बिन्दु को ही अपने सम्मुख रखती है। वस्तुतः अंग्रेजी में जो कहा जाता है कि कहानी जीवन के केवल एक भाग (Aspect) की भाँकी (Snap shot)-मात्र है, वह सर्वथा उपयुक्त है। संक्षेप से कहानी और उपन्यास में यही अन्तर है कि उपन्यास यदि जीवन का पूर्ण चित्र है तो कहानी उसके एक अंग की भाँकी-मात्र है। किन्तु यह भाँकी अपने-आप में सर्वथा पूर्ण होती है।

२. कहानी में उपन्यास की-सी अनेकरूपता नहीं होती। उसमें न तो प्रासंगिक कथाएँ होती हैं और न वातावरण और देश, काल की परिस्थितियों का विस्तार ही। उपन्यासों में जो जीवन के विभिन्न चित्र मिलते हैं और उनका जो विस्तार होता है वे अनेक आख्यायिकाओं में भी नहीं समा सकते। कहानी का क्षेत्र छोटा है, उसमें न तो पात्रों का वैसा चरित्र-चित्रण ही हो सकता है और न वैसी जीवन की विस्तृत व्याख्या ही हो सकती है, जैसी कि उपन्यास में। कहानी में उपन्यास की-सी जटिलता नहीं होती, वह सरल होती है।

३. कहानी-लेखक अपनी कहानियों में कथानक, चरित्र-चित्रण तथा शैली इत्यादि विभिन्न तत्त्वों में से किसी एक को ही मुख्यता प्रदान कर सकता है, सबको एक साथ नहीं । किन्तु उपन्यासकार अपनी कथावस्तु में सभी का समावेश कर सकता है ।

४. उपन्यास के पात्र कहानी के पात्रों की अपेक्षा अधिक सजीव होते हैं । इसका कारण यह भी है कि उपन्यासकार को उनके चरित्र-चित्रण के लिए पर्याप्त समय प्राप्त हो जाता है, जो कि कहानीकार को उपलब्ध नहीं होता ।

५. कहानी का प्रभाव उसकी कथन-शैली पर निर्भर होता है । उसमें उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व की मात्रा अधिक रहती है ।

इसी प्रकार कहानी अपनी प्रभावोत्पादकता, संक्षिप्तता, एकध्येयता तथा अनुभव की तीव्रता के कारण उपन्यास से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखती है ।

७. भारत का प्राचीन कहानी-साहित्य

भारत का प्राचीन साहित्य वैदिक साहित्य से प्रारम्भ होता है । अन्वेषकों का विचार है कि कहानी के प्रारम्भिक रूप का विकास वैदिक साहित्य में उपलब्ध है । तदनन्तर उपनिषद्, पुराण, तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में कथा-साहित्य उत्तरोत्तर विकसित होता गया । उपनिषदों में दार्शनिक वाद-विवाद के समय आख्यानो का आश्रय लिया जाता था, पुराणों में उर्वशी, मय तथा पुरुरवा इत्यादि के उपाख्यान प्राप्य हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थों में दृष्टान्तों और उदाहरणों के अतिरिक्त प्राचीन राजाओं की कथाएँ उपलब्ध होती हैं ।

बौद्ध-युग में लिखी गई जातक-कथाएँ अपनी रोचकता और शालीनता के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं । विचारों और आदर्शों की दृष्टि से इनमें से बहुत-सी कथाएँ आज भी विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं । इन कहानियों का विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है । 'ईसप' की कहानियाँ (Aesop's fables) और 'सिन्दबाद सेलर' (Sindabad Sailor) की कथाएँ जातक-कथाओं पर ही आधारित हैं ।

संस्कृत-कथा-साहित्य में 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की कहानियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं । इनमें पशु-पक्षियों को भी पात्र के रूप में ग्रहण किया गया है और उनके द्वारा ही अनेक उपदेश-परक व्यावहारिक नीति से युक्त कथानियाँ कही गई हैं । इन ग्रन्थों का भी सैकड़ों विदेशी भाषाओं में अनुवाद

हो चुका है।

पैशाची में लिखी गई गुणादय की 'बुड्ढकहा' (बृहत्कथा) भारतीय-कथा-साहित्य में अमूल्य ग्रन्थ है। यद्यपि यह अभी अक अप्राप्य है, किन्तु इसकी कथाएँ भारतीय भाषाओं में परम्परा से चली आ रही हैं। सोमदेव-लिखित 'कथा-सरित्सागर' ईसा की दसवीं शताब्दी में लिखा गया था।

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। कहानी के विविध रूप लोक-कथाएँ (Folk tales), रोमांटिक कथाएँ (Romantic stories) तथा अलौकिक कथाएँ (Supernatural tales) भारतीय कथाओं में प्राप्य हैं।

८. हिन्दी-कहानी का विकास

हिन्दी-कहानी प्राचीन भारतीय परम्परा के अन्तर्गत होती हुई भी आधुनिक पाश्चात्य कहानी के आधार पर ही अधिष्ठित है। रचना की दृष्टि से प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन आख्यान, उपाख्यान, दृष्टान्त और उदाहरण इत्यादि आधुनिक कहानियों से संगठन और स्वरूप में काफी भिन्न हैं। आख्यानों में तो अनेक उपकथाएँ चलती रहती हैं, हाँ, दृष्टान्त का स्वरूप आधुनिक कहानी के अधिक निकट है।

प्राचीन कहानियों के आलम्बन लोकनायक होते थे, किन्तु उनमें व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव रहता था। पात्रों का विस्तृत परिचय भी नहीं प्राप्त होता था। साहित्यिक कथाओं की शैली समास, अनुप्रास और रूपक इत्यादि अलंकारों से बोझिल होती थी। उनमें व्यर्थ की ऊहापोह को अधिक महत्त्व दिया जाता था। किन्तु 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' इत्यादि की कथाएँ पर्याप्त सरल भाषा में लिखी गई हैं।

आधुनिक कहानी में सरलता अधिक होती है और उसमें भावों के विश्लेषण, मानसिक संघर्ष और चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी में चमत्कार, विवरण और अलंकार-प्रियता की प्रवृत्ति अधिक होती थी। कौतूहल तथा औत्सुक्य को बनाए रखने के लिए मानवैतर उपकरणों का आश्रय ग्रहण किया जाता था जिसका कि आधुनिक कहानी में अभाव होता है। आधुनिक कथाओं में बौद्धिकता की प्रधानता होती है, उनमें राजा-रानियों की कथा नहीं होती, अपितु जन-साधारण का ही वर्णन रहता है।

हिन्दी-कहानी आधुनिक युग की देन है, उसका विकास अंग्रेजी ढंग की छोटी कहानी के अनुकरण पर ही हुआ है। आधुनिक ढंग की कहानी के विकास से पूर्व सैयद इन्शाअल्ला खाँ (रानी केतकी की कहानी) तथा राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द (राजा भोज का सपना) कथाएँ लिख चुके थे। भारतेन्दु बाबू के प्रादुर्भाव के साथ हिन्दी के कथा-साहित्य का समुचित विकास प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु-काल के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखकों में किशोरलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष इत्यादि मुख्य हैं। ये कहानियाँ मौलिक कम और अनूदित अधिक होती थीं। इधर 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० गिरिजादत्त वाजपेयी ने कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। किन्तु भाषा के अत्यधिक भारी-भरकम होने के कारण उनकी कहानियाँ लोकप्रिय न हो सकीं। 'इन्दु' पत्रिका के प्रकाशन के साथ प्रसाद जी ने कथा-साहित्य में प्रवेश किया। 'ग्राम' प्रसाद जी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। प्रसाद जी के आगमन के साथ ही हिन्दी-कथा-साहित्य में द्वितीय उत्थान का प्रारम्भ होता है। 'इन्दु' में ही श्री जी० पी० श्रीवास्तव, राधिकारमणप्रसादसिंह तथा विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ की। इनके कुछ समय पश्चात् ही सर्वश्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, और मुन्शी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया। गोपालराम गहमरी जासूसी उपन्यास लिखने में तो ख्याति प्राप्त कर ही चुके थे, इधर उन्होंने कहानी-क्षेत्र में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उग्र, चतुरसेन शास्त्री, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' भी इसी समय के प्रसिद्ध लेखक हैं। प्रेमचन्द जी के अनन्तर सर्वश्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, राहुल, इलाचन्द्र जोशी, राय कृष्णदास, जैनेन्द्र, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ 'अशक', यशपाल, पहाड़ी, विनोदशंकर व्यास, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी विष्णु प्रभाकर, रामचन्द्र तिवारी, हंसराज 'रहबर', अमृतराय तथा राजेन्द्र यादव इत्यादि ने इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की।

कहानी के क्षेत्र में हमारे देश की अन्य गतिविधियों के समान सुभद्राकुमारी चौहान, होमवती, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, चन्द्रवती ऋषभसेन जैन, कृष्णा सोबती, विपुला देवी, सत्यवती शर्मा, रामेश्वरी शर्मा, रजनी पनिकर तथा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि महिला-कहानी-लेखिकाओं

६. पाश्चात्य कथा-साहित्य

पाश्चात्य सभ्यता का विकास मिस्र और ग्रीस में हुआ है। अतः पाश्चात्य कथा-साहित्य का पूर्व रूप भी इन्हीं देशों में उपलब्ध होता है। ईसा से ४,००० वर्ष पूर्व मिस्र में 'खफरी की कहानी' नामक एक अत्यन्त मनोरंजक कथा लिखी गई थी। फारस तथा अरब में जातक-कथाओं के आधार पर ओडेसियस और सिन्दबाद सेलर की कथा लिखी गई। ये कहानियाँ बहुत रोचक हैं, इनमें नाविकों के साहसपूर्ण कृत्यों का उल्लेख है। ग्रीक और लेटिन कथा-साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। ईसप, हेरोडोटस, थियोकाइट्स, लूसियन, हेलिओडोरस इत्यादि विद्वानों ने पाश्चात्य कथा-साहित्य की श्री-वृद्धि की है। प्राचीन कथा-साहित्य में नाविकों की रोमांचकारी समुद्र-यात्राओं, कल्पित और वास्तविक युद्धों और साहसपूर्ण कृत्यों का उल्लेख रहता था। इनमें वर्णन की प्रधानता होती थी और अमानवीय तथा अलौकिक तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान की जाती थी। ये कथाएँ वीर सामन्तों, शासकों तथा राजाओं से सम्बन्धित होती हैं।

नवीन प्रणाली का श्रीगणेश इटली में बोकेशियो (Boecacio) ने किया था। बोकेशियो के डिकेमरन (Decameran) नामक ग्रन्थ का प्रभाव कहानी-क्षेत्र में क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। बोकेशियो ने एक बहुत मार्मिक प्रेम-कहानी लिखी है, इसमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के प्रदर्शन के साथ उनकी सामाजिक परिस्थिति का भी बहुत हृदय-ग्राही वर्णन किया है। इन कहानियों की शैली जीवन-चरित्र की-सी होती थी और इनका आकार छोटे उपन्यासों के समान था। इस इटैलियन कथाकार की कहानियों का जब फ्रेंच आदि यूरोप की अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ तो उसका उन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। इङ्गलैंड में लैटिन और इटैलियन कथाओं का अनुवाद हुआ, किन्तु वहाँ मौलिक कथा-साहित्य का विकास बहुत देर तक रुका रहा। १७वीं शताब्दी में स्पेनिस कथा-साहित्य की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'डान कि जोरी' की रचना हुई, इसका सम्पूर्ण यूरोपीय कथा-साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा।

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के अनन्तर सम्पूर्ण यूरोपीय कथा-साहित्य का विकास अप्रतिहत गति से प्रारम्भ हुआ।

फ्रेंच-कथाकारों ने आधुनिक कहानी के रूप-निर्माण में सर्वाधिक सहयोग

दिया है। नाटक की भाँति कहानी में भी वस्तु, स्थान तथा काल (Three unities) की एकता के अपनाए जाने पर फ्रेंच-कथाकारों ने विशेष बल दिया। फ्रेंच-कथा-साहित्य में एक ही भाव, एक ही समय और एक ही पात्र के निरूपण का विशेष प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस प्रयत्न में वे अधिक सफल नहीं हो पाए। फ्रेंच-कथा-साहित्य में नाटकीय तत्वों (Dramatic elements) की अधिकता है, फलस्वरूप नाटकों की भाँति उनमें प्रभावोत्पादन की अद्भुत शक्ति है। वाल्टेयर और ड्यूमा की कहानियों में रोमान्स का आधिक्य है। जोला और मोपाँसा का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। किन्तु फ्रेंच-समाज, सुसभ्य, सुसंस्कृत तथा कला की दृष्टि से बहुत उन्नत था, अतः इन कहानीकारों की कहानियाँ हमारे सामने एक समृद्ध और सुखी समाज के चित्रों को प्रस्तुत करती हैं। कला की दृष्टि से बालजाक की और संगठन की दृष्टि से मोपाँसा की कहानियाँ आज भी बेजोड़ समझी जाती हैं।

रूसी कथा-साहित्य विश्व में सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। यद्यपि रूसी कथा-साहित्य का विकास फ्रेंच-कथा-साहित्य के पश्चात् प्रारम्भ हुआ है, किन्तु उसके विकास की गति इतनी तीव्र और प्रचण्ड थी कि थोड़े ही समय में वह सम्पूर्ण विश्व के कथा-साहित्य को पीछे छोड़ गया। रूसी कथा-साहित्य में दुःखान्त और जीवन के मार्मिक दृश्यों की ही अधिकता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि रूस में जार का निरंकुश अधिनायक-तन्त्र चल रहा था जनता पीड़ित, शोषित और त्रसित थी। सांसारिक सुख-सुविधाएँ तो दूर वहाँ के जन-साधारण का जीवन प्रत्येक समय असुरक्षित था। अतः वहाँ के साहित्य में जहाँ एक ओर निराशा की विचार-धारा चल रही थी, वहाँ दूसरी ओर क्रान्ति और सुधारवादी विचारों का प्रचलन भी पर्याप्त था। टाल्स्टाय और गोर्की की कहानियों में क्रमशः सुधारवादी और क्रान्तिकारी भावना काम कर रही थी। उसमें रूस के किसान और मजदूर वर्ग का बहुत सजीव और मार्मिक चित्रण किया गया है। तुर्गेनेव और चैखफ की कहानियाँ कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं।

कहानी को आधुनिकतम रूप प्रदान करने वालों में अमरीकन गल्पकार एडगर एलन पो सर्वप्रमुख हैं। उनसे पूर्व कहानी का कथानक ढीला और असंगत होता था, किन्तु अमरीकन लेखकों ने कहानी का पूर्ण कलात्मक विकास किया। पो के अतिरिक्त अमरीकन लेखकों में हार्थने और ब्रेटहार्टन कहानी-

कला के संस्कार-प्रसिद्ध आविष्कारक स्वीकार किये जाते हैं ।

कथा-साहित्य की दृष्टि से इंग्लैंड यूरोप में अग्रणी नहीं । तुर्गनेव, टाल्स्टाय या मोपाँसा-जैसा कलाकार इंग्लैंड में कोई नहीं, तथापि वहाँ कथा-साहित्य का सर्वथा अभाव नहीं । मेरेथिड (Merethid), हार्डी (Hardy) और स्टीवेन्सन (Stevenson) आदि अच्छे कहानी-लेखक हैं ।

छोटी कहानी का कलात्मक विकास पश्चिम में ही हुआ है ।

छै : नाटक

१. व्युत्पत्ति और परिभाषा

हम पीछे कविता के प्रकरण में बतला चुके हैं कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य के विषय या रचना-पद्धति की दृष्टि से श्रव्य या दृश्य काव्य के रूप में दो प्रमुख भेद किये हैं। श्रव्य काव्य के विभिन्न रूपों का वर्णन पीछे किया जा चुका है, यहाँ हम दृश्य काव्य का विवेचन करेंगे। यद्यपि दृश्य काव्य का सम्बन्ध कानों से भी है तथापि उसकी सार्थकता दृश्यों को देख सकने वाली चक्षुरिन्द्रिय पर ही निर्भर है। इसी कारण इसे यह नाम दिया गया है।

दृश्य काव्य को नाटक कहा जाता है। नाटक वस्तुतः रूपक के अनेक भेदों में से एक प्रमुख भेद है। किन्तु आज वह रूपक शब्द के लिए ही रूढ़ हो चुका है। रूपारोपान्तरूपकम्—एक व्यक्ति का दूसरे पर आरोप करने को रूपक कहते हैं। नट पर जब अन्य पात्रों का आरोप किया जाता है तो रूपक बनता है।

नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सात्विक भावों का प्रदर्शन। दूसरे अर्थ में नाटक का सम्बन्ध नट (अभिनेता) से होता है, और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को ही नाट्य कहते हैं।^१ इस प्रकार नट (अभिनेता) से सम्बन्धित होने के कारण नाटक नाटक कहलाता है।

२. नाटक का शेष साहित्य से सम्बन्ध

साहित्य के विभिन्न अंगों से नाटक का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि नाटक में गद्य और पद्य का मिश्रण रहता है, और इसी कारण काव्य-शास्त्रकारों ने नाटक को चम्पू कहा है। इस अवस्था में नाटक आलोचना तथा निबन्ध आदि गद्य

१. 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'।

के विभिन्न रूपों से भिन्न है। हाँ, नाटक का सम्बन्ध कथात्मक साहित्य से अवश्य है। कथात्मक साहित्य में उपन्यास तथा कहानी को ग्रहण किया जाता है। नाटकीय कथावस्तु और उपन्यास की कथावस्तु के तत्त्वों में पर्याप्त समानता होती है। किन्तु नाटककार को रंगमंच के प्रतिबन्धों का विचार रखते हुए एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत अपनी कथा का विस्तार करना होता है; जब कि उपन्यासकार इस विषय में सर्वथा स्वतन्त्र होता है। नाटककार अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं की व्याख्या स्वयं नहीं कर सकता, किन्तु उपन्यासकार पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। नाटक में अभिनय, सजीवता और प्रत्यक्षानुभव का समावेश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें उपन्यास की अपेक्षा प्रभावोत्पादन की शक्ति अधिक होती है। नाटक तथा उपन्यास के मूल तत्त्व एक अवश्य है, किन्तु नाटककार और उपन्यासकार की परिस्थितियाँ भिन्न हैं, और इसी कारण दोनों में पर्याप्त अन्तर है।

३. नाटक का महत्त्व

नाटक हमारे यथार्थ जीवन के अधिक निकट है, उसका मानव-जीवन और समाज से बहुत निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता, उपन्यास तथा कहानी इत्यादि पाठक के सम्मुख कल्पना द्वारा समाज के चित्र को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु नाटक शब्द, पात्रों की वेष-भूषा, उनकी आकृति, भाव-भंगिमा, क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय तथा प्रदर्शन द्वारा दर्शक को समाज के यथार्थ जीवन के निकट ला देते हैं। श्रव्य या पाठ्य-काव्य का समाज से सीधा सम्बन्ध नहीं, उसमें केवल शब्दों तथा, भावनात्मक चित्रों द्वारा कल्पना के योग से अनेक मानसिक चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं। उसमें कल्पना पर अधिक बल नहीं दिया जाता, रंगमंच की सहायता से समाज के वास्तविक उपादानों को एकत्रित कर दिया जाता है। इसी कारण नाटक में प्रभावोत्पादन की शक्ति भी अधिक होती है। अप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष में प्रभावोत्पादन की शक्ति का आधिक्य स्वाभाविक ही है। नाटक के अभिनय में जितनी अधिक वास्तविकता होगी उतना ही वह सफल समझा जायगा।

नाटक तथा समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी कारण नाटक को समाज के अधिक निकट आना पड़ता है। समाज के शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग ही नाटक द्वारा मनोरंजन प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि शिक्षित वर्ग के

लिए तो वह बुद्धिगम्य होता ही है, अभिनीत होने पर नाटक प्रत्यक्ष और मूर्त हो जाता है, उस अवस्था में वह अशिक्षित वर्ग के लिए भी बुद्धिगम्य हो जाता है।

कलात्मक दृष्टि से भी नाटक साहित्य के विभिन्न रूपों से श्रेष्ठ समझा जाता है। क्योंकि नाटक सर्व-कला-समन्वित होता है, अतः उसमें वास्तु-कला, संगीत-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला तथा काव्य-कला सभी का समावेश हो जाता है। वास्तु-कला, मूर्ति-कला और चित्र-कला रंगमंच से सम्बन्धित होती हैं, और संगीत तथा काव्य-कला का सम्बन्ध पात्रों से रहता है। वस्तुतः भरत मुनि का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है :

न संयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।

सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥

अर्थात् न ऐसा योग है न कर्म, न शास्त्र न शिल्प, अथवा अन्य कोई ऐसा कार्य; जिसका नाटक में उपयोग न हो।

इस प्रकार नाटक सभी कलाओं से युक्त होकर समाज के सभी वर्गों के लिए समान रूप से उपलब्ध हो सकता है। इस श्रेष्ठता का कारण ही तो कहा गया है : काव्येषु नाटकं रम्यम् ।

४. नाटक के तत्त्व

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं—(१) वस्तु, (२) नायक और (३) रस। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार इन तत्त्वों की संख्या ५ तक पहुँचती है। वे इस प्रकार हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) चरित्र-चित्रण, (४) कथोपकथन, (५) देश, काल, तथा वातावरण। यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों द्वारा वर्णित इन विभिन्न तत्त्वों का उपर्युक्त तीन तत्त्वों में ही समावेश हो सकता है, तथापि विस्तृत और युक्ति-संगत विवेचन के लिए हम पाश्चात्य आचार्यों द्वारा वर्णित तत्त्वों का ही आधार लेंगे।

(१) कथावस्तु (Plot) दृश्य-काव्य के कथानक या कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। कथावस्तु उपन्यास तथा कहानी का भी एक आवश्यक तत्त्व है, किन्तु उपन्यास तथा नाटक की कथावस्तु के आकार-प्रकार में बहुत अन्तर है। उपन्यासकार अपनी कथावस्तु के विस्तार और निर्माण में स्वतन्त्र है, वह शता-

ब्दियों की घटनाओं और अधिक-से-अधिक सामग्री को उसमें समाविष्ट कर सकता है। किन्तु नाटककार को एक निश्चित मर्यादा के भीतर चलना होता है, वह न तो कथावस्तु का अधिक विस्तार ही कर सकता है और न अनावश्यक सामग्री का ही समावेश कर सकता है। नाटक की कथावस्तु उपन्यास की भाँति अधिक विस्तृत नहीं होनी चाहिए, वह तीन-चार घंटों में समाप्त हो जानी चाहिए। अतः कथावस्तु की विस्तृत सामग्री में से उसे आवश्यक तथ्यों का ही निर्वाचन करना होता है।

कथावस्तु के आधिकारिक और प्रासंगिक ये दो प्रमुख भेद माने गए हैं। 'आधिकारिक' कथावस्तु का प्रधान या मूल अंग है और उसका कथावस्तु के मुख्य पात्रों से सम्बन्ध होता है, उसीके पात्र फल-प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। प्रसंगवश आई हुई कथा को 'प्रासंगिक' कहा जाता है, यह मुख्य कथा के विकास और सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक होती है। 'रामायण' में राम की कथा तथा सुग्रीव की कथा क्रमशः 'आधिकारिक' और 'प्रासंगिक' कहलाती हैं, क्योंकि सुग्रीव की कथा मूल कथा के विकास में जहाँ सहायक होती है, वहाँ वह नायक का हित-साधन भी करती है।

प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—(१) पताका, तथा (२) प्रकरी। जब प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक सम्बन्धित रहती है तो उसे 'पताका' कहा जाता है और जब वह मध्य में समाप्त हो जाय तो वह 'प्रकरी' कहलाती है।

कथावस्तु के विकास में विभिन्न अवस्थाएँ सहायिका होती हैं, इन अवस्थाओं के विषय में पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण में भेद है। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

१. प्रारम्भ में कुछ संघर्षमयी घटना का प्रारम्भ होता है, यह संघर्ष या विरोध दो विभिन्न आदशों, उद्देश्यों, दलों, सिद्धान्तों इत्यादि किसी का हो सकता है। सामान्यतः दो व्यक्ति (प्रायः नायक और प्रतिनायक) इन विरोधी भावनाओं और आदशों के प्रतीक बन जाते हैं।

२. विकास कथावस्तु की दूसरी अवस्था है, इसमें पारस्परिक विरोधी घटनाओं के घटित होने में वृद्धि होती है। पात्रों का अथवा आदशों का पारस्परिक संघर्ष एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है।

३. चरम सीमा कथावस्तु की वह अवस्था है जहाँ पारस्परिक विरोधी दलों का अथवा आदर्शों का विरोध या संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, और वहाँ किसी एक पक्ष की विजय प्रारम्भ हो जाती है ।

४. उतार कथावस्तु की चौथी अवस्था है, जहाँ विजयी पक्ष की विजय निश्चित हो जाती है ।

५. अन्त या समाप्ति पाँचवीं अवस्था है, जहाँ आकर सम्पूर्ण संघर्ष का अन्त हो जाता है । प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं को इस क्रम से निश्चित किया है—(१) प्रारम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति, तथा (५) फलागम ।

(१) प्रारम्भ में कथानक का आरम्भ होता है व फल-प्राप्ति की इच्छा जागृत होती है । (२) दूसरी अवस्था में फल-प्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए प्रयत्न किया जाता है । (३) तीसरी अवस्था में फल-प्राप्ति की आशा उत्पन्न होती है । (४) चौथी अवस्था में यह आशा निश्चित रूप धारण कर लेती है, और (५) पाँचवीं अवस्था में फल की प्राप्ति हो जाती है ।

ऊपर भारतीय और यूरोपीय दोनों ही दृष्टिकोण रख दिए गए हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं । अन्तर केवल संघर्ष के विषय में है । हमारे यहाँ संघर्ष को अधिक महत्ता प्रदान नहीं की गई, किन्तु पाश्चात्य आचार्य तो संघर्ष को नाटकों के प्राण के रूप में स्वीकार करते हैं । संघर्ष के बिना वहाँ नाटकीय कथावस्तु सर्वथा अनुपयुक्त और प्राण-हीन समझी जाती है । डॉक्टर श्यामसुन्दरदास का कथन है कि पाश्चात्य विद्वानों ने विरोध या संघर्ष को प्रधानता देकर अपने-अपने विषय की सीमा बहुत संकुचित कर दी है, और हमारे यहाँ आचार्यों ने अपना क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है । हमारे विभाग और विवेचन के अन्तर्गत उनके विभाग और उनका विवेचन सहज में आ सकता है पर उनके संकुचित विवेचन में हमारे विस्तृत विवेचन का स्थान नहीं है ।^१

किन्तु आज की परिस्थितियों में यह मत उपयुक्त नहीं समझा जाता ।

^१ 'साहित्यालोचन', पृष्ठ १६२ ।

आज के नाटकों में यदि संघर्षमय वातावरण की कमी हो तो उसमें नाटकीयता का अभाव माना जाता है । संघर्ष के अभाव में नाटक के पात्र-जीवन-रहित कठपुतलियों के सदृश प्रतीत होते हैं, और कथावस्तु शुष्क एवं नीरस । प्राचीन भारतीय नाटकों में कवित्वपूर्ण वातावरण के साथ अध्यात्म-प्रधान आदर्शवाद का प्राधान्य रहता था । उनमें संघर्ष की उपेक्षा तो नहीं की गई, किन्तु उसे प्रमुखता भी प्रदान नहीं की गई । पर आज यह दृष्टिकोण बदल चुका है ।

अर्थ प्रकृतियाँ—कथानक को मुख्य फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारपूर्ण अंश को अर्थ प्रकृति कहते हैं । अर्थ प्रकृतियाँ पाँच निश्चित की गई हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी, और (५) कार्य ।

(१) **बीज** प्रधान फल के हेतुस्वरूप कथा का वह भाग है, जो क्रमशः विकास प्राप्त करता है । कथावस्तु का प्रारम्भिक अंश बीज रूप में स्थित रहता है, जो कि कार्य-शृंखला के साथ-साथ विकसित होता चलता है । बीज का सम्बन्ध आधिकारिक कथा से रहता है ।

(२) **बिन्दु** निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढ़ाती और प्रधान कथा से उसका सम्बन्ध स्थापित करती है ।

(३) **पताका** प्रासंगिक कथा का एक भेद है, जिसमें कि नायक अपना पृथक् महत्त्व नहीं रखता, वह अपने कार्यों द्वारा मूल कथा के विकास में सहायक सिद्ध होता है । पताका मूल कथा के साथ बराबर सम्बन्धित रहती है ।

(४) **प्रकरी** भी प्रासंगिक कथा का ही एक भेद है जो मूल कथा के सौन्दर्य-वर्द्धन में सहायक सिद्ध होती है । किन्तु यह थोड़े ही समय तक चलकर रुक जाती है और प्रधान कथा के साथ बराबर नहीं रहती ।

(५) **कार्य** अन्तिम परिणाम या फल को कहते हैं, इसी फल सिद्धि के लिए सम्पूर्ण प्रयत्न किये जाते हैं ।

सन्धियाँ—अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है । ये विभिन्न सन्धियाँ विभिन्न अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती हैं, और उनके अनुकूल अर्थ-प्रकृतियों से उनका मेल कराती हैं— ये संख्या में ५ हैं, और इनके नाम और काम इस प्रकार हैं—

(१) **मुख्य सन्धि** में प्रारम्भ नाम की परिस्थिति के साथ योग होने से अनेक अर्थों और रसों के व्यञ्जक बीज की उत्पत्ति होती है

(२) प्रतिमुख सन्धि में बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित होता हुआ दीख पड़ता है । इससे घटना-क्रम अग्रसर होता है ।

(३) गर्भ सन्धि में अंकुरित बीज का विस्तार होता है । इस सन्धि में प्राप्त्याशा, अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है ।

(४) अवमर्श या विमर्श सन्धि में उपर्युक्त सन्धि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होता है, किन्तु इसमें फल-प्राप्ति में अनेक विघ्न भी उपस्थित हो जाते हैं । इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी-अर्थ-प्रकृति होती है ।

(५) निर्वहण या उपसंहार सन्धि में मुख्य फल की प्राप्ति हो जाती है । और पूर्व कथित चारों सन्धियों में वर्णित प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है ।

ऊपर हमने अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों के पाँच-पाँच भेदों का विस्तार पूर्वक विवेचन कर दिया है । अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से, और सन्धियाँ रूपक-रचना के सम्बन्धित हैं । इन तीनों के विभिन्न भेद विभिन्न विचारों में प्रयुक्त किये जाते हुए भी एक दूसरे के अनुकूल और सहायक हैं । इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार रखा जा सकता है—

अर्थ प्रकृति	अवस्था	सन्धि
१. बीज	१. प्रारम्भ	१. मुख
२. बिन्दु	२. प्रयत्न	२. प्रतिमुख
३. पताका	३. प्राप्त्याशा	३. गर्भ
४. प्रकरी	४. नियताप्ति	४. विमर्श
५. कार्य	५. फलागम	५. निर्वहण या उपसंहार

आज के नाटकों की कथावस्तु में इन प्राचीन शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं हो रहा । उनका विकास सर्वथा एक स्वतन्त्र दिशा में हो रहा है । आज के नाटकों में प्रायः एक ही प्रधान कथा रहती है, प्रासंगिक कथा आवश्यक नहीं समझी जाती । आकार में भी आज के नाटक प्राचीन नाटकों से छोटे होते हैं, उनमें प्रायः तीन अंक रहते हैं, ऐसी दशा में कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं का तो निर्वाह हो सकता है । किन्तु सम्पूर्ण सन्धियों और अर्थ-प्रकृतियों का नहीं ।

नाटक की कथावस्तु के दृश्य और सूच्य दो विभाग किये गए हैं । दृश्य

कथावस्तु का वह भाग है जिसमें घटनाओं का अभिनय रंगमंच पर दिखलाया जाता है। दृश्य-कथावस्तु में समाविष्ट घटनाओं के अतिरिक्त बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं जो कि रंगमंच पर अभिनीत रूप में तो नहीं दिखाई जा सकतीं, किन्तु कथावस्तु के तारतम्य को बनाए रखने के लिए उनकी सूचना अवश्य दी जाती है। अतः नाटकीय कथावस्तु के तारतम्य को बनाए रखने के लिए जिन महत्वपूर्ण घटनाओं की किसी-न-किसी रूप में सूचना दे दी जाती है, वह सूच्य कहलाती है।

अर्थोपेक्षक—सूच्य कथावस्तु की सूचना देने के जो साधन हैं उनको अर्थोपेक्षक कहा जाता है। अर्थोपेक्षक संख्या में पाँच हैं—

(१) **विष्कम्भक** में पहले ही अथवा बाद में घटित होने वाली घटना की सूचना-मात्र दी जाती है। इसमें केवल दो अप्रधान पात्रों का कथोपकथन होता ही रहता है। नाटक के प्रारम्भ में अथवा दो अंकों के मध्य में यह हो सकता है।

(२) **चूलिका** में कथा भाग की सूचना पदों के पीछे से दी जाती है। संस्कृत-नाटकों में चूलिका के लिए 'नेपथ्य' में ऐसा संकेत किया जाता है।

(३) **अंकास्य** में आगामी अंक की कथा का सार बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा दे दिया जाता है। अभिनीत हुए-हुए अंक की अभिनीत होने वाले अंक के साथ इसके द्वारा संगति मिला दी जाती है।

(४) **अंकावतार** में पात्रों के परिवर्तित हुए बिना ही पहले अंक की कथा को आगे बढ़ाया जाता है। पहले अंक के पात्र बाहर जाकर लौट आते हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता।

(५) **प्रवेशक** में आगे आने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। जहाँ विष्कम्भक नाटक के प्रारम्भ में आता है, वहाँ प्रवेशक दो अंकों के मध्य में ही आता है।

कथावस्तु के तीन भेद—कथावस्तु के तीन प्रमुख भेद किये गए हैं—

(१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य, और (३) मिश्र।*

इतिहासिक, पौराणिक तथा परम्परागत जनश्रुति के आधार पर प्रतिष्ठित

कथावस्तु प्रख्यात कहलाती है, कल्पना के आधार पर प्रतिष्ठित कथावस्तु उत्पाद्य और इतिहास तथा कल्पना से मिश्रित कथावस्तु मिश्र कही जाती है ।^१

किन्तु आधुनिक नाटकों की कथावस्तु का विभाजन सर्वथा उपर्युक्त आधार पर नहीं किया जाता । आज तो नाटकीय कथावस्तु में प्रतिपादित समस्याओं के आधार पर भी उनका विभाजन होता है । हाँ, कथावस्तु के इतिहासिक और पौराणिक विभाजन भी सर्वथा उपेक्षित नहीं । आज के नाटकों की कथावस्तु सामाजिक, राजनीतिक आदि समस्या-मूलक और ऐतिहासिक तथा पौराणिक आदि के रूप में विभाजित की जाती है ।

हम पहले लिख आए हैं कि नाटककार को कथावस्तु में अनावश्यक और गौण तथ्यों तथा घटनाओं को समाविष्ट नहीं करना चाहिए । केवल माधुर्य तथा रसपूर्ण उदात्त, आवश्यक, महत्त्वपूर्ण और प्रभावशालिनी घटनाओं का वर्णन कथावस्तुओं में होना चाहिए ।

(२) पात्र

नाटक में अनेक पात्र रहते हैं, और उन्हीं के आश्रय से घटनाएँ घटित होती हुई कथावस्तु का निर्माण करती हैं । नाटक का प्रमुख पात्र नायक कहलाता है । नायक की प्रिया अथवा पत्नी नायिका कहलाती है । हमारे यहाँ आचार्यों ने नायक और नायिका के गुणों की बहुत सूक्ष्म विवेचना की है, और उन्हें उनके स्वभाव तथा गुणों के अनुरूप अनेक वर्गों में विभाजित किया है ।

नायक नाटक का प्रधान पात्र होता है और वह सम्पूर्ण कथा-शृङ्खला को विकसित करता हुआ, उसे अन्त की ओर ले जाता है । प्राचीन नियमों के अनुसार नाटक में उसकी उपस्थिति आदि से अन्त तक आवश्यक है । उसमें निम्न लिखित गुणों की उपस्थिति अनिवार्य समझी गई है :

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा ॥

बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।

शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिकः ॥

१. प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।

मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादि भेदतः ॥

अर्थात् नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, शुचि, वाक्पटु, उच्चकुलोद्भव, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, आत्मसम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए ।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मतानुसार नायक श्रेष्ठ कुलोत्पन्न सर्व-गुण-सम्पन्न एक महान् देवोपम व्यक्ति होता था । किन्तु आज नाटक के नायक में उपर्युक्त गुणों को अनिवार्य आवश्यकताओं के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता । अभिजात्य की तो समस्या ही समाप्त हो चुकी है, आज तो नाटककार जुआरी और शराबी को भी नायक के रूप में चित्रित कर सकता है ।

नायक के भेद—नायकों के चार मुख्य भेद हैं (१) धीरोदात्त नायक, (२) धीर ललित नायक, (३) धीरप्रशान्त नायक, तथा (४) धीरोद्धत नायक ।

(१) धीरोदात्त नायक शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढ़ता, गम्भीरता, आत्म-सम्मान तथा उदारता आदि गुणों से युक्त होता है । वह विनयी, अहंकारहीन, तथा क्रोध आदि में स्थिर चित्त रहने वाला होता है । वह कभी आत्म-प्रशंसा नहीं करता । भगवान् राम धीरोदात्त नायक के उत्कृष्ट उदाहरण हैं ।

(२) धीर ललित नायक शृंगार-प्रेमी, सुखान्वेषी, कलाविज्ञ, कोमल चित्त, और स्थिर चित्त होता है । उसमें ललित गुणों की प्रधानता होती है । इसी कारण ये शृङ्गार रस के अधिक उपयुक्त समझा जाता है । दुष्यन्त इसी प्रकार का नायक है ।

(३) धीर प्रशान्त नायक सन्तोषी, शान्ति-प्रिय, कोमल-चित्त तथा सुखान्वेषी होता है । सन्तोषी एवं शान्ति-प्रिय होने के फलस्वरूप धीरप्रशान्त नायक प्रायः ब्राह्मण और वैश्य होते हैं । 'मालती-माधव' का माधव ऐसा ही नायक है ।

(४) धीरोद्धत नायक में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं । वह उद्धत, चंचल, प्रचण्ड स्वभाव वाला तथा आत्म-प्रशंसा-परायण और धोखेबाज होता है । उसमें अभिमान और छल का आधिक्य होता है । भीम, परशुराम और दुर्योधन आदि ऐसे ही नायक हैं । दुर्गुणों के कारण कुछ आचार्य इन्हें नायक मानना उपयुक्त नहीं समझते ।

नायकों के इन भेदों के अतिरिक्त चार भेद और भी किये जाते हैं । ये भेद इस प्रकार हैं—(१) अनुकूल (२) दक्षिण (३) घृष्ट और (४) शठ । यह

चारों भेद वस्तुतः एक ही नायक की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्थाओं के परिचायक हैं। यह विभाजन शृङ्गार से सम्बन्धित है, और इनका वर्गीकरण पत्नियों के सम्बन्धों के आधार पर ही किया गया है।

(१) अनुकूल नायक एक पत्नीव्रती होता है। जैसे—राम।

दक्षिण गायक की अनेक प्रेमिकाएँ होती हैं, किन्तु वह अपनी दक्षता के फलस्वरूप प्रधान प्रेमिका को प्रसन्न रखता है, और उस पर अपने अन्य स्त्री-प्रेम को प्रकट नहीं होने देता।

(२) धृष्ट नायक अपने विप्रियाचरण को नहीं छिपाता, वह धृष्टता और निर्लज्जता पूर्वक दुराचारण करता हुआ प्रधान प्रेमिका को दुःखित करने में भी नहीं चूकता। वह पत्नी की चिन्ता भी नहीं करता।

(३) शठ नायक प्रधान प्रेमिका से प्रेम करता हुआ भी छिपे-छिपे अन्य नायिकाओं से भी सम्बन्ध रखता है। यह सम्बन्ध प्रायः साक्षात् रहता है, किन्तु वह प्रधान नायिका को प्रसन्न रखने के लिए अपने अन्य-स्त्री-प्रेम को छिपाने के लिए बराबर तत्पर रहता है।

नायिका—भारतीय साहित्याचार्यों के मतानुसार नायक की पत्नी अथवा प्रिया नायिका कहलाती है। गुणों में वह नायक-तुल्य होनी चाहिए। हमारे यहाँ नायिका-भेद बहुत विस्तार पूर्वक किया गया है। नायिकाओं के अनेक आवश्यक भेद करके बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति का परिचय दिया गया है। यहाँ उस वाद-विवाद में पड़ने की आवश्यकता न समझते हुए भी हम केवल नायिकाओं के मुख्य भेद लिखकर इस प्रसंग को आगे बढ़ायेंगे।

नायिकाओं के भेद—‘नाट्य-शास्त्र’ के रचयिता भरत मुनि ने नायिकाओं के चार भेद माने हैं—(१) दिव्या, (२) नृपति नीर, (३) कुल-स्त्री तथा (४) गणिका। किन्तु पाश्चात्य आचार्यों ने इन भेदों को न मानकर इस विषय की विवेचना अपने नवीन दृष्टिकोण के अनुसार की है। उनके अनुसार नायिकाओं के तीन भेद किये गए हैं—(१) स्वकीया, (२) परिकीया, और (३) सामान्या।

स्वकीया अपनी पत्नी होती है, परकीया दूसरे की पत्नी भी हो सकती है और अविवाहिता भी। सामान्या किसी की पत्नी नहीं होती। उसे गणिका या वेश्या भी कहा जाता है।

नायिकाओं के यही प्रमुख भेद हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि पाश्चात्य आचार्य यह आवश्यक नहीं समझते कि नायिका नायक की पत्नी अथवा प्रिया हो । स्त्री-पात्रों में जो प्रमुख हो, और कथावस्तु में प्रमुख भाग ले वही नायिका समझी जायगी, चाहे वह नायक की प्रिया अथवा पत्नी हो या न हो । आधुनिक हिन्दी-नाटकों में भी इसी पथ का अनुकरण किया जा रहा है, अतः यहाँ नायिका की समीक्षा में उपर्युक्त दृष्टिकोण का विचार रखना चाहिए ।

प्रतिनायक, विदूषक, विट और चेट भी नायक के मुख्य पात्र होते हैं । नाटक में नायक का जो प्रमुख विरोधी हो, वह 'प्रतिनायक' कहलाता है । 'विदूषक' का काम हँसाना है । नायक से उसकी घनिष्ठता होती है, अतः वह उससे भी परिहास कर सकता है । वह उसका सलाहकार भी होता है । संस्कृत-नाटकों में प्रायः पेटू ब्राह्मण ही विदूषक का कार्य करता था । आजकल के नाटकों में विदूषक की पृथक् सत्ता नहीं । 'चेट' नायक का अनुचर होता है, और 'विट' वाद्य-गायन में निपुण नाटक का अन्तरंग सेवक । विट को संस्कृत-नाटकों में वाचाल, नीति-निपुण और घूर्त के रूप में चित्रित किया गया है ।

(३) चरित्र-चित्रण—उपन्यास की भाँति आज के नाटकों में भी चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है । पात्रों की मानसिक और भावात्मक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उसकी आन्तरिक और बाह्य वृत्तियों को प्रकाशित किया जाता है । चरित्रिक उत्थान-पतन, मानसिक उतार-चढ़ाव, तथा विभिन्न भावों और आदर्शों का चित्रण उसमें पर्याप्त मात्रा में रहता है ।

उपन्यास तथा नाटक की चरित्र-चित्रण-पद्धति में अन्तर है । क्योंकि उपन्यासकार के पास स्थान और समय की कमी नहीं होती, वह जहाँ कथोपकथन या वार्तालाप द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रदर्शित कर सकता है, वहाँ वह स्वयं भी टीका-टिप्पणी करके उनके चरित्र पर प्रकाश डाल सकता है । पर नाटककार के पास समय तथा स्थान की कमी तो होती ही है, साथ ही वह पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्वयं प्रकाशित नहीं कर सकता । उपन्यासकार की भाँति वह पात्रों के सूक्ष्म आन्तरिक संघर्ष-विघर्ष का भी चित्रण नहीं कर सकता । इस विषय में नाटककार का कार्य उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक कठिन है ।

नाटककार अपने पात्रों के विषय में स्वयं कुछ नहीं कहता, वह कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। जहाँ उपन्यास में चरित्र-चित्रण करते हुए साक्षात् और परोक्ष या अभिनयात्मक दोनों ही चरित्र-चित्रण प्रकारों को अपनाया जाता है, वहाँ नाटक में तीन प्रकार से चरित्र-चित्रण हो सकता है—

(१) कथोपकथन द्वारा जब पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं तब हम पात्रों की बातचीत के ढंग से उनके चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं। जब वे एक-दूसरे के विषय में बातचीत करते हैं, तो वे स्वयं दूसरों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित करते हैं।

(२) स्वगत-कथन भी चरित्र-चित्रण का एक उत्कृष्ट प्रकार है। एकान्त में जब मनुष्य अपने-आप सोचता है और अपने मन के विचारों को अभिव्यक्त करता है, तो वह स्वयं ही अपनी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित कर देता है। आन्तरिक संघर्ष का चित्रण भी स्वगत-कथन द्वारा हो सकता है।

(३) कार्य-कलाप मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन का एक प्रमुख साधन है। क्योंकि हम मनुष्य की उच्चता और नीचता का अनुभव उसके कार्यों द्वारा ही कर सकते हैं।

चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता पर ही नाटक की सफलता आधारित है।

(४) कथोपकथन—नाटकों का विकास कथोपकथन से ही माना जाता है। भारतीय नाट्य-साहित्य का विकास भी वेद तथा उपनिषदादि में प्राप्त कथोपकथन से ही माना गया है; किन्तु आश्चर्य है कि हमारे यहाँ नाटक की कथा-वस्तु की तो बहुत सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना की गई है, किन्तु कथोपकथन को नाटक का एक स्वतन्त्र तत्त्व भी स्वीकार नहीं किया गया। नाटक में नाटकीय वस्तु का विकास कथोपकथन द्वारा ही होता है, और उसीके द्वारा नाटक में नाटकीय गुणों की स्थापना होती है।

हमारे यहाँ आचार्यों ने कथोपकथन के तीन भेद किये हैं—(१) नियत श्राव्य, (२) सर्व श्राव्य, और (३) अश्राव्य।

(१) नियत श्राव्य में रंगमंच पर सब पात्रों के सम्मुख बात नहीं की जाती, बल्कि कुछ निश्चित पात्रों से ही बातचीत होती है। यह दो प्रकार का है—अपवारित और जनान्तिक। जिस पात्र से बात को छिपाना हो उसकी ओर से

मुख फेरकर यदि बात की जाती है तो वह 'अपवारित' कहलाता है। 'जनान्तिक' में मध्य की तीन अंगुणियों की ओट में निहित पात्रों से बात की जाती है।

(२) सर्व श्राव्य को प्रकट या प्रकाश भी कहते हैं। सर्व श्राव्य सबके सुनने के लिए होता है।

(३) अश्राव्य किसी अन्य के सुनने के लिए नहीं होता। इसीको आत्मगत अथवा स्वगत कहा जाता है।

स्वगत-कथन को आज अस्वाभाविक समझा जाता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो उसके मन में आये उसे बोलना चला जाय तो वह पागल ही कहलायगा। जब वह अकेला हो तो उसका यह स्वगत-कथन और भी अधिक अस्वाभाविक समझा जाता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं; यह ठीक है कि अपने-आप बड़बड़ाना और बोलना भट्टा मालूम पड़ता है, पर नाटकों में इसकी आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि पात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों और उनके मानसिक घात-प्रतिघात के चित्रण के लिए नाटककार के पास इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं। आन्तरिक विचारों का प्रदर्शन मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के ज्ञान के लिए प्रत्यावश्यक है। उपन्यासकार टीका-टिप्पणी द्वारा यह कार्य कर सकता है, किन्तु नाटककार को स्वगत-कथन का ही आश्रय लेना पड़ता है।

स्वगत कथन सर्वथा अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि भावावेश की अवस्था में मनुष्य अपने-आप ही बड़बड़ाने लगता है। हाँ, अस्वाभाविक वह तब हो जाता है, जब उसे अनुचित विस्तार दिया जाता है। स्वगत-कथन संक्षिप्त होना चाहिए, उससे पृष्ठ-के-पृष्ठ नहीं रंगे जाने चाहिए।

पाश्चात्य साहित्य में स्वगत-कथन को दूर करने के लिए एक नई युक्ति सोच निकाली गई है। इसके अनुसार एक और नवीन विश्वास-पात्र व्यक्ति को अवतारणा की जाती है जो कि पात्र का अन्तरंग मित्र होता है। और इस अवस्था में वह अपने सब भाव उस पर प्रकट कर देता है। कथोपकथन का एक अन्य ढंग भी हमारे यहाँ प्रचलित है, इसे आकाश-भाषित कहते हैं। इसमें पात्र आकाश की ओर मुख करके इस प्रकार बातें करता है मानो उधर बैठा हुआ कोई व्यक्ति उसकी बातें सुन रहा हो और वह उसका उत्तर दे रहा हो।

'मुद्रा राक्षस' के दूसरे अङ्क में मदारी आते ही कहता है :

(आकाश में देखकर) महाराज क्या कहा ? तू कौन है ? महाराज, मैं जीर्ण विष नाम सपेरा हूँ । (फिर आकाश की ओर देखकर) 'क्या कहा कि मैं भी साँप का मंत्र जानता हूँ ?' खेलूंगा ? तो आप क्या काम करते हैं, यह तो कहिए ? (फिर आकाश की ओर देखकर) 'क्या कहा, मैं राजसेवक हूँ ? तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं ।' (फिर ऊपर देखकर) 'क्या कहा, जैसे, मंत्र और जड़ी बिना मदारी और आँकुस बिना मतवाले हाथी का हाथी-वान, वैसे ही नये अधिकार के संग्राम-विजयी राजा के सेवक ये नीनों अवश्य नष्ट होते हैं ।

कथोपकथन और चरित्र-चित्रण—जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि चरित्र-चित्रण में कथोपकथन विशेष उपयुक्त सिद्ध होता है । जब विभिन्न पात्र परस्पर वार्तालाप करते हैं तो वे एक-दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन तो करते ही हैं साथ ही वार्तालाप के ढंग और शैली द्वारा अपने चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं । मनोविज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित चरित्र-चित्रण भी कथोपकथन पर आधारित होता है ।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्रों की परिस्थितियों के अनुकूल ही हो । जहाँ कथोपकथन लम्बे और अस्वाभाविक ढंग से बढ़ जाते हैं, वहाँ नाटक में नीरसता और निर्जीवता आ जाती है । अतः कथोपकथन बहुत लम्बे और विस्तृत नहीं होने चाहिए । उन्हें सुनकर पाठक ऊब ही न जाय । यह ध्यान में रखना चाहिए कि कथोपकथन का अभिनय से भी सम्बन्ध है, अतः कथोपकथन का अभिनय के उपयुक्त होना अत्यावश्यक है ।

(५) देश, काल तथा वातावरण—उपन्यास की भाँति नाटकों में भी देश, काल तथा वातावरण का विचार रखा जाता है । पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता तथा वास्तविकता लाने के लिए, पात्रों के चारों ओर की परिस्थितियों, वातावरण तथा देशकालिक विधान के वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है । देश, काल तथा वातावरण के विपरीत चित्रण से अस्वाभाविकता उत्पन्न हो जाती है । (जिस प्रकार यदि गुप्तकालीन समाज का चित्रण करते हुए नाटककार तत्कालीन परिस्थितियों का आधुनिक ढंग से वर्णन करे तो वह अनुपयुक्त और असंगत होगा) । गुप्त-काल में मोटरों तथा वायुयानों को आधुनिक ढंग के सामाजिक रीति-रिवाजों को प्रदर्शित करना

अपने बौद्धमपन का परिचय देना है। प्रत्येक युग की, प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति और सम्यता होती है, उनके अपने रीति-रिवाज, रहन-सहन और वेश-भूषा के ढग होते हैं, जिन्हें कि उसी रूप में चित्रित करना चाहिए। भगवान् राम को हैट, नेकटाई पहने अथवा किसी यूरोपीय राजा तथा पात्र को धोती-कुर्ता पहने हुए नहीं चित्रित किया जा सकता। यह देश-विरुद्ध दूषण होगा।

उपन्यास में देश, काल तथा वातवरण-सम्बन्धी जिन बातों का विचार रखना पड़ता है, नाटक में भी वही बातें ध्यान में रखी जाती हैं। किन्तु यह नहीं भूल जाना चाहिए कि नाटक का सम्बन्ध रंगमंच से है, अतः नाटक में उन्हीं बातों का वर्णन होना चाहिए जो कि रंगमंच पर घटित हो सकती हों।

संकलन-त्रय (Three unities)—नाटक में देश, काल की समस्या पर विचार करते हुए हमें प्राचीन ग्रीक आचार्यों के संकलन-त्रय (Three unities)-सम्बन्धी सिद्धान्त पर विचार कर लेना चाहिए। प्राचीन ग्रीक नाटकों में स्थल, कार्य तथा काल की एकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ग्रीक आचार्यों का यह मत था कि नाटक में वर्णित घटना किसी एक ही कृत्य से सम्बन्धित हो, वह एक ही स्थान की हो और एक ही दिन में घटित हुई हो। इसका अर्थ यह हुआ कि एक दिन में एक स्थान पर जो-कुछ कार्य हुए हों, उन्हीं-का अभिनय एक बार में होना चाहिए। इस प्रकार नाटक में यह नहीं होना चाहिए कि एक दृश्य दिल्ली का हो तो दूसरा पटना का; नाटक में वर्णित घटना एक ही स्थान की हो। इसे ही वे स्थल की एकता (Unity of place) कहते हैं।

नाटक में जिन घटनाओं का वर्णन किया जाय उनमें बरसों का व्यवधान न हो। उनके घटित होने में उतना ही समय व्यतीत हुआ हो, जितना कि नाटक के अभिनय में लगता है। इसीको समय की एकता (Unity of time) कहते हैं। कार्य की एकता (Unity of action) का अर्थ है कथावस्तु की अविच्छिन्नता तथा एकरसता। ऐसी अवस्था में कथावस्तु में प्रासंगिक कथाओं को स्थान प्राप्त नहीं हो सकता।

ग्रीस में नाटकों का अभिनय आजकल की तरह दो-तीन घंटों में न होकर प्रायः दिन-भर ही होता रहता था। अतः वहाँ के रंगमंच की परिस्थिति के अनुरूप ही इस नियम का प्रचलन हुआ। ग्रीस से यह नियम इटली में पहुँचा

और इटली से फ्रांस में, जहाँ कि पर्याप्त समय तक इस नियम का अनुसरण किया गया। ग्रीस में तो यह नियम था कि चौबीस घंटों में जो घटनाएँ हुई हों, नाटक में उन्हींका अभिनय होना चाहिए, फ्रांस में यह समय चौबीस से तीस घंटे कर दिया गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जिस नाटक में जितने समय की घटनाओं का समावेश किया जायगा, उसके अभिनय करने में भी उतना ही समय व्यतीत होगा।

ग्रीक नाटक बहुत सादे और सरल थे, उनमें पात्रों की संख्या चार-पाँच से अधिक नहीं होती थी, अतः वहाँ इस नियम का पालन हो सकता था। क्योंकि रंगशालाओं की अवस्था उनकी आवश्यकता के अनुकूल थी। किन्तु शीघ्र ही इस नियम का उल्लंघन प्रारम्भ हुआ। इसे नाटक के कलात्मक विकास में बाधक समझा जाने लगा। संकलन-त्रय की ग्रीक आचार्यों द्वारा जैसी व्याख्या की जाती थी, वैसी आज स्वीकार नहीं की जाती। संकलन-त्रय को आज एक दूसरे ही रूप में देखा जाता है। काल-संकलन से आज यही अर्थ लिया जाता है कि चाहे घटनाओं के घटित होने में कितना ही समय क्यों न लगता हो, उसको रंगमंच पर घटित होते हुए इस प्रकार प्रदर्शित किया जाय कि विभिन्न घटनाओं के बीच में जो समय व्यतीत हो, उस पर दर्शक का ध्यान न जाय। प्रथम तो, घटना अथवा दृश्य से दूसरी घटना अथवा दृश्य तक पहुँचते हुए प्रेक्षक कही अस्वाभाविकता अनुभव न करे। दूसरे पहले होने वाली घटनाओं का वर्णन पीछे होने वाली घटनाओं या दृश्यों से पीछे न हो।

हमारे यहाँ नाटकों में काल-संकलन के पालन में ग्रीक-नाटकों जैसी कठोरता नहीं थी, तथापि यह एक नियम था कि अंक में वर्णित कथा एक दिन से अधिक की न हो, और दो अंक के बीच का व्यवधान एक वर्ष से अधिक का न हो। किन्तु भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' में इस नियम को भंग करके नाटक की स्वाभाविकता को स्थिर रखकर काल-संकलन-सम्बन्धी नियमों की निस्सारता को सिद्ध कर दिया है। काल-संकलन-सम्बन्धी नियम वहीं तक सहायक हो सकते हैं जहाँ तक कि नाटक स्वाभाविकता में सहयोगी हो।

स्थल-संकलन के अनुसार ग्रीक नाटकों में दृश्य-परिवर्तन नहीं होता था, रंगशाला में आदि से अन्त तक एक ही रहता था। वहाँ पर्दे के परिवर्तन के स्थान पर सामूहिक गान (Chorous) द्वारा दृश्य-परिवर्तन होता था। तत्का-

लीन जीवन के अनुरूप नाटक भी सादे और सरल थे, उनमें पट-परिवर्तन या दृश्य-परिवर्तन के बिना काम चल सकता था। किन्तु आज हमारा जीवन पर्याप्त उलझा हुआ है, हमारे जीवन की घटनाएँ एक स्थान पर नहीं हो सकतीं, अतः आज पट के परिवर्तन द्वारा दृश्य-परिवर्तन किया जाता है। बिना पट-परिवर्तन के भी दृश्य-परिवर्तन हो सकता है। संस्कृत के नाटककारों ने कभी भी स्थलैक्य का विचार नहीं किया, शेक्सपियर ने भी इस नियम का बराबर उल्लंघन किया है।

कार्य की एकता (Unity of action) की भारतीय आचार्यों ने समुचित व्याख्या की है। प्रासंगिक कथावस्तु के सम्मिश्रण द्वारा उन्होंने प्रधान कथावस्तु को सौन्दर्यपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने नाटकों में सदैव इस बात का ध्यान रखा कि कथा का निर्वाह आदि से अन्त तक बिलकुल समान रूप से हो, और आदि से अन्त तक एक ही मुख्य कथा तथा एक ही मुख्य सिद्धान्त विद्यमान रहे। प्रासंगिक कथा का प्रचलन मुख्य कथा के प्रवाह में सहायक ही होता है। ग्रीक आचार्यों ने जिस कार्य-संकलन के विषय में लिखा है, वह नाटक में एकरसता और वैविध्यहीनता को उत्पन्न कर देता है। भारतीय आचार्यों ने विविधता में भी ऐक्य की रक्षा की है। वस्तुतः कार्य की एकता का अर्थ यही है कि नाटक की कथावस्तु विशृङ्खल न होने पाय।

इस प्रकार ग्रीक आचार्यों ने संकलन-त्रय के जिस सिद्धान्त को निर्धारित किया था, वह आज मान्य नहीं रहा। अत्याधुनिक नाटकों में संकलन-त्रय की जो प्रवृत्ति लक्षित हो रही है, वह वस्तुतः घटना-क्रम का ऐसा विकसित रूप है, जो कि समय, स्थान, तथा कार्य के वैविध्य को लिये हुए भी भारतीय आदर्श के अनुरूप ऐक्य को रक्षित किये हुए है।

५. नाटक का उद्देश्य

जो विवाद साहित्य के उद्देश्य के विषय में है, वही नाटक के उद्देश्य के विषय में भी है। जिस प्रकार कुछ आलोचक साहित्य का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति को मानते हैं, उसी प्रकार कुछ नाटककार समाज की परिस्थितियों के यथार्थ और नग्न चित्रण को ही नाटक का उद्देश्य समझते हैं। कुछ पाश्चात्य आचार्यों ने साहित्य की भाँति नाटक का उद्देश्य भी जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना माना है। उनका कथन है कि साहित्य के अन्य अङ्गों की भाँति नाटक को भी

जीवन की आन्तरिक और बाह्य अनुभूतियों को, मानव के हृदय के घात-प्रति-घात को, उसके जीवन की विभिन्न विषमताओं को इस रूप में चित्रित करना चाहिए कि वह एक विशेष उद्देश्य को उपस्थित कर सके। किन्तु नाटक में जीवन की यह मीमांसा साहित्य के दूसरे अङ्गों से कुछ भिन्न रूप में उपस्थित की जाती है। जैसे उपन्यासकार अपने जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति उपन्यास में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से कर सकता है। पात्रों के कथोपकथन के रूप में तथा यत्र-तत्र टीका-टिप्पणी द्वारा उसका उद्देश्य अभिव्यक्त हो जाता है। किन्तु नाटककार प्रत्यक्ष रूप से दर्शकों या पाठकों के सम्मुख नहीं आ सकता, वह न तो अपने पात्रों के विषय में ही स्वयं कुछ कह सकता है, और न टीका-टिप्पणी द्वारा ही। नाटककार अपने पात्रों के रूप में ही हमारे सामने आता है, और पात्रों द्वारा ही वह अपने उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है। इस अवस्था में नाटक के उद्देश्य का और नाटककार के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के निर्णय करने का उत्तरदायित्व दर्शक पर ही आ पड़ता है। अनेक बार नाटक के उद्देश्य की अभिव्यक्ति कथोपकथन द्वारा हो जाती है, अनेक बार यह उद्देश्य कथानक में व्यजित रहता है। प्रायः नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति अपने किसी विशिष्ट पात्र द्वारा करवाता है। कुछ नाटकों में एक ऐसे पात्र की व्यवस्था रहती है, जो कि नाटककार के उद्देश्य की ही अभिव्यंजना करता है, ऐसे पात्र को तार्किक (Raisonneur) कहा जाता है। वस्तुतः नाटककार के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण को जानने का समुचित ढंग तो यही है कि हम विभिन्न पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करें, और फिर उसका उद्देश्य निर्धारित करें। किसी एक पात्र के विचारों से ही नाटककार के उद्देश्य को निर्धारित करना आमक होता है।

नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हम जान सकते हैं कि—

१. नाटककार हमारे सम्मुख किस नैतिक आदर्श को उपस्थित करता है ? उसका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या है ? नाटक में अभिव्यंजित उद्देश्य हमारे जीवन को किस रूप में प्रभावित करता है।

२. नाटककार द्वारा चित्रित आदर्श हमारे सामने उसके देश तथा समाज के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं। उससे हमें यह मालूम हो जाता है कि उसका देश नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कितना उन्नत और

कितना पतित है ?

३. नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें यह पता चलता है कि वह जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखता है अथवा यथार्थवादी ? उसमें निराशा का आशय है क्या ?

४. भारतीय दृष्टिकोण

पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक में जहाँ उद्देश्य का विवेचन किया है वहाँ हमारे यहाँ रस की विवेचना हुई है । नाटकों के विवेचन में ही रस-सिद्धान्त की स्थापना की गई है । रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है, अतः भारतीय आचार्यों के अनुसार रस की अभिव्यक्ति ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है । नाटक में किसी एक रस की प्रधानता रहती है, शेष रस गौण रूप में रहते हैं, उनका मुख्य कार्य प्रधान रस के उत्कर्ष का वर्द्धन करना ही होता है, इन रसों की संख्या दस है, इनकी अभिव्यक्ति अनुभाव, विभाव और संचारी भावों के संयोग से होती है ।

हमारा देश आदर्शवादी है, अतः साहित्य की भाँति नाटक की रचना भी सोद्देश्य होती रही है । भारतीय आचार्यों ने नाटकीय कथावस्तु द्वारा धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक की अथवा तीनों की ही सिद्धि का होना आवश्यक माना है । इस प्रकार हमारे यहाँ नाटकों में जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाने का प्रयत्न किया गया ।

शैली नाटक का छठा तत्त्व है । शैली का सर्वांग विवेचन हम पीछे कर चुके हैं, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं ।

७. अभिनय तथा रंगमंच

यद्यपि पाश्चात्य आचार्यों ने अभिनय को नाटक के मुख्य तत्त्वों में स्वीकार नहीं किया, किन्तु हमारे यहाँ अभिनय को विशेष प्रमुखता प्रदान की गई है । 'नाट्य-शास्त्र' में नाटक के इस प्रमुख अंग का बहुत विशद विवेचन किया गया है ।

अभिनय वस्तुतः नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति का ही नाम है । इसके चार प्रकार कहे गए हैं :

१. 'रस' का विवेचन पीछे 'साहित्य' के प्रकरण में किया जा चुका है ।

आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्विकस्तथाः ।

ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः ॥

आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक ये अभिनय के चार प्रमुख भेद कहे गए हैं ।

१. **आंगिक अभिनय** का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों से है । शरीर के विभिन्न अंगों का संचालन, हाथों का हिलाना, अन्धकार में टटोलना, तैरना, घोड़े पर सवार होना, विभिन्न रसों के अनुकूल दृष्टियों में परिवर्तन करना, हँसना, रोना, लज्जान्वित होकर दृष्टि नीची करना इत्यादि सब कायिक चेष्टाएँ इसीके अन्तर्गत आ जाती हैं । आंगिक अभिनय के तीन भेद हैं—(१) शारीरिक, (२) मुखज तथा (३) चेष्टाकृत ।

२. **वाचिक अभिनय** का सम्बन्ध वाणी से है । विभिन्न प्रकार के शब्दों का करना, बोलना, पाठ करना, गाना इत्यादि इसी अभिनय में आयेंगे । विभिन्न शास्त्रों—स्वर-शास्त्र, व्याकरण, छन्द-शास्त्र—का ज्ञान इसके लिए आवश्यक माना गया है । विभिन्न पात्रों के सम्बोधन के विभिन्न प्रकार हैं, जो कि वाचिक अभिनय के अन्तर्गत ही ग्रहीत किये जाते हैं ।

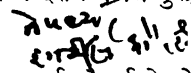
३. **आहार्य अभिनय** में वेश-भूषा, आभूषणों, वस्त्रों तथा विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा का उल्लेख रहता है । पृथक्-पृथक् वर्णों के पृथक्-पृथक् रंगों का भी अनुकरण होता था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता तथा सम्पन्न व्यक्ति गौर वर्ण वाले होते थे । आहार्य अभिनय के अनुसार ही राजे-महाराजे, मुकुटधारी, विह्वल, गंजे, तथा सैनिक-वेश-भूषा से सम्बन्धित बहुत-सी बातें इसमें आ जाती थीं ।

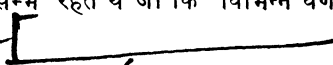
४. **सात्विक अभिनय** में सात्विक भावों का अभिनय रहता था । स्वेद, रोमांच, कंप, स्तम्भ, और अश्रु-प्रहार द्वारा अवस्थाओं का अनुकरण इसमें मुख्य रूप से रहता है । भाव-प्रदर्शन की शिक्षा को भी सात्विक अभिनय में मुख्य रूप से ग्रहीत किया जाता रहा ।

अभिनय के विवेचन के अनन्तर अब रंगमंच या प्रेक्षा-गृह पर भी विचार कर लेना चाहिए । यह भूलना नहीं चाहिए कि नाटकों की रचना रंगमंच के लिए ही होती है, जो नाटक रंगमंच पर अभिनीत नहीं किये जा सकते वे वस्तुतः नाटक कहे जाने के उपयुक्त नहीं । हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से

हो जहाँ नाटकों के अभिनय का विवेचन किया गया है, वहाँ रंगमंच की रूप-रखा और उसके विविध प्रकारों का भी बड़ा विशद वर्णन है।

‘नाट्य-शास्त्र’ के रचयिता भरत मुनि ने रंगमंच की सर्वतोमुखी विवेचना की है, उनके अनुसार रंगमंच तीन प्रकार के है—(१) व्यस, (२) विकृष्ट तथा (३) चतुरस्र। 

१. व्यस त्रिभुजाकार था और निकृष्ट माना जाता था। इसमें केवल कुछ परिचित जन और मित्र ही बैठकर नाटक देखा करते थे। 

२. विकृष्ट सर्वश्रेष्ठ प्रेक्षागृह समझा जाता था, इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो गुनी होती थी। इसके तीन भेद हैं। विकृष्ट प्रेक्षागृह में तीन बराबर-बराबर भाग होते थे। सबसे अन्तिम भाग का नाम नेपथ्य था। जनता के कोलाहल अथवा अन्य प्रकार की घटनाएँ, जिनका कि रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जा सकता था, यहीं पर सूचित की जाती थी। दूसरा भाग दो बराबर हिस्सों में बँटा रहता था, इसमें नेपथ्य के निकट का पहला हिस्सा रंगशीर्ष कहलाता था, अभिनय का कार्य इसीमें होता था। यह अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे पर्दों, चित्रों तथा विविध प्रकार की नक्काशी और चित्रकारी से सुसज्जित रहता था। रंगशीर्ष का अगला भाग रंगपीठ कहलाता था। इसमें शायद नाच-रंग की व्यवस्था रहती थी। इस भाग में ही सूत्रधार भी आकर अपनी सूचना दिया करता था। रंगपीठ के आगे का भाग दर्शकों के लिए सुरक्षित रहता था, इसमें विभिन्न रंगों के खम्भे रहते थे जो कि विभिन्न वर्णों के बैठने के स्थान के द्योतक होते थे। 

३. चतुरस्र रंगमंच ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौड़ा होता था, इसकी रचना वर्गाकार ढंग की होती थी, और यह केवल देवताओं, धनी-मानियों तथा अभिजात वर्ग के लिए सुरक्षित रहता था। यह मध्यम श्रेणी का प्रेक्षागृह था।

पात्रों की वेश-भूषा, रंगमंच की सजावट, तथा अन्य प्रकार से नाटकीय उपकरणों का विवेचन ‘नाट्य-शास्त्र’ में बहुत विस्तार से किया गया है। यवनिका, रथों और घोड़ों के स्थान तथा रंगमंच से सम्बन्धित अन्य सामग्री का भी ‘नाट्य-शास्त्र’ में बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है।

८. वृत्तियाँ

‘नाट्य-शास्त्र’ के रचयिता भरत मुनि ने वृत्तियाँ को नाटक की माताएँ कहा है :

एना बृधेज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः ।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नाटकीय तत्त्वों की विवेचना करते हुए इन वृत्तियों को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु की गति-विधि से रहता है, और पात्रों की चाल-ढाल भी इसीसे सम्बन्धित रहती है।

प्राचीन आचार्यों के मतानुसार रसास्वादन के प्रधान कारण को वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियाँ चार हैं—(१) भारती वृत्ति, (२) सात्वती वृत्ति, (३) कैशिकी वृत्ति, तथा (४) आरभटी वृत्ति। इन चारों का जन्म क्रमशः ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व वेद से माना जाता है।

१. भारती वृत्ति का सम्बन्ध भरतों या नटों से रहता है, इसलिए इसका नाम भारती वृत्ति प्रसिद्ध हो गया है। इसमें स्त्रियों को स्थान प्राप्त नहीं था। इसमें पात्रों की भाषा संस्कृत होती थी, और इसका सम्बन्ध सभी रसों से रहता था। नाटक के प्रारम्भिक कृत्यों से यह विशेष रूप से सम्बन्धित थी।

२. सात्वती वृत्ति में वीरोचित कार्यों की प्रधानता रहती थी; शौर्य, दान, दया तथा दाक्षिण्य को इसमें विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। वाणी के ओज का इसमें विशेष प्रदर्शन होता है। सात्वती वृत्ति बहुत आनन्द-वर्द्धिनी है, वीरोचित कार्यों से सम्बन्धित होने के कारण इसमें वीर रस का प्राधान्य रहता है।

३. कैशिकी वृत्ति में स्त्रियों की प्रमुखता रहती है, इसमें लालित्य, संगीत, नृत्य, विलास, रति तथा हास्य का प्राधान्य होता है। इसी कारण यह मनो-हारिणी और माधुर्यमयी मानी गई है।

४. आरभटी वृत्ति का प्रयोग रौद्र रस में होता है, क्योंकि इसमें संग्राम, संघर्ष, क्रोध, आघात, प्रतिघात, माया, इन्द्रजाल आदि रौद्र रस के उपकरणों का समावेश रहता है।

९. रूपक के भेद

नाटक यद्यपि रूपक का ही एक भेद है, किन्तु आज उसका प्रयोग रूपक के

सभी भेदों के लिए किया जाता है। यहाँ हम प्राचीन शास्त्रीय रीति के अनुसार रूपक के विभिन्न भेदों पर विचार करेंगे। हमारे नाट्य-शास्त्र की विवेचना करते हुए आचार्यों ने नाट्य को रूपक और उपरूपक दो भेदों में विभाजित किया है। रूपक में रस की प्रधानता होती है और उपरूपक में नृत्य तथा नृत्त की। नृत्य में केवल अंगों का विभिन्न प्रकार से संचालन रहता है, उसमें अभिनय नहीं होता। उपरूपक में गीत, नृत्य और अभिनय तीनों का समावेश रहता है।

रूपक के १० भेद हैं, जिनके नाम ये हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) वीथी, (६) समवकार, (७) प्रहसन, (८) डिम, (९) ईदामृग, और (१०) अङ्क।

ये भेद वस्तु, नायक और रस के आधार पर किये गए हैं।

१. नाटक रूपक के दस भेदों में सर्वप्रमुख है और रूपक के सभी भेदों का प्रतिनिधि माना जाता है। इसमें नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण नियम, लक्षण और रस सम्मिलित हो जाते हैं, आचार्यों के मतानुसार इसमें पाँच सन्धियाँ, चार वृत्तियाँ, चौसठ सन्ध्यंग, छत्तीस लक्षण और तैंतीस अलंकार होने चाहिए। इसके पाँच अङ्क होते हैं, जिन नाटकों में पाँच अङ्क से अधिक हों वे महा नाटक होते हैं। नाटक की कथा का आधार कल्पना नहीं होती, अपितु इसका कथानक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आधार पर प्रतिष्ठित होता है। उसका नायक महान् देवोपम व्यक्तित्व-सम्पन्न राजा-महाराजा होता था, अथवा कोई महानात्मा ऋषि-महर्षि। नाटक के प्रारम्भिक अङ्कों की अपेक्षा पिछले अङ्क छोटे होने चाहिए।

यद्यपि नाटक में किसी भी रस की प्रधानता हो सकती है, तथापि शृङ्गार, वीर तथा करुण को ही इसमें प्रमुखता प्रदान की जाती है।

२. प्रकरण और नाटक की कथावस्तु में विशेष अन्तर नहीं। हाँ, प्रकरण की कथा कवि-कल्पित होती है, नायक भी धीर-शान्त होता है। वह प्रायः किसी राजा का मन्त्री होता है अथवा ब्राह्मण या वैश्य। इसकी नायिका कुल-कन्या और वेश्या दोनों ही हो सकती है। इसमें शृङ्गार रस की प्रमुखता रहती है। 'मालती माधव' रूपक के इस प्रकार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

३. भाण में हास्य रस की प्रधानता होती है, और भूतों का चरित्र-चित्रण

किया जाता है। कथावस्तु कवि-कल्पित होती है। इसमें एक ही अङ्क होता है और एक ही पात्र। वह ऊपर आकाश की ओर मुख उठाकर इस प्रकार बातें करता है मानो आकाश में उसकी बातों को सुनने वाला और उत्तर देने वाला कोई व्यक्ति हो। इस प्रकार आकाश-भाषित के ढंग पर वह अपने अथवा दूसरे के अनुभवों का वर्णन करता है।

४. व्यायोग में एक अङ्क और एक ही कथा होती है। इसका कथानक इतिहास अथवा पुराण के आधार पर आधारित होता है, नायक भी धीरोदात्त, राजर्षि अथवा दिव्य व्यक्तित्व-सम्पन्न होता है। इसमें वीर रस की प्रधानता होती है, और स्त्री पात्रों का अभाव रहता है।

५. बीथी का कथानक कवि-कल्पित होता है, और इसमें शृङ्गार तथा वीर रस की प्रमुखता रहती है। इसमें एक या दो पात्र होते हैं, कथोपकथन आकाश-भाषित के ढंग का होता है। नायक उच्च तथा मध्यम श्रेणी का रहता है।

६. समवकार का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है, और इसमें तीन अङ्क होते हैं। वीर रस की इसमें प्रधानता होती है। इसमें बारह पात्र रहते हैं। प्रत्येक को पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति होती है। दानव-देवताओं का वर्णन इसमें प्रमुखता से रहता है।

७. प्रहसन में केवल हास्य रस का वर्णन होता है। भाण और प्रहसन में पर्याप्त साम्य होता है। प्रहसन के तीन भेद किये गए हैं—शुद्ध, विकृत और संकर। शुद्ध में पाखण्डी सन्यासी, पुरोहित अथवा तपस्वी नायक रहता है। विकृत में तपस्वी कंचुकी तथा नपुंसकों को कामुक वेश में प्रदर्शित किया जाता है। संकर का नायक धूर्त और छली होता है, इसमें उपहास का आधिक्य रहता है। शुद्ध प्रहसन में व्यंग्य का आधिक्य होता है। प्रहसन के प्रथम दो भेदों से उपदेश भी अपेक्षित रहता है।

प्रहसन में एक ही अङ्क होता है और इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं।

८. डिम में रौद्र रस की प्रधानता होती है, अद्भुत का भी मिश्रण रहता है, इन्द्रजाल, माया, जादू, छल, मंत्रादि का वर्णन रहता है। सोलह पात्र होते हैं जिनमें देवता, दैत्य, असुर, भूत, पिशाच आदि नायक होते हैं। इसके

अङ्कों की संख्या चार होती है ।

६. ईहामृग का कथानक इतिहास तथा कल्पना से मिश्रित होता है । नायक और प्रतिनायक दोनों ही प्रसिद्ध देवता अथवा लोकनायक होते हैं । इसमें शृङ्गार रस की प्रमुखता होती है, और प्रेम-कथा का वर्णन रहता है । नायक किसी अनुपम-रूप-सम्पन्ना नायिका का इच्छुक होता है, किन्तु प्रति-नायक के विरोध के कारण वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता । फलस्वरूप युद्ध की नौबत आ पहुँचती है, परन्तु कोई भी पात्र मरता नहीं । इसमें भी चार अङ्क होते हैं ।

१०. अंक की कथा इतिहास-प्रसिद्ध भी होती है और साधारण भी । इसमें एक ही अङ्क रहता है, इसका नायक साधारण पुरुष होता है । इसमें युद्धों का वर्णन होता है, किन्तु प्रधानता करुण रस की होती है । स्त्रियों के विलाप का विशेष वर्णन रहता है ।

रूपक के उपर्युक्त भेद पर्याप्त युक्ति-संगत और व्यापक हैं, इनमें रूपक के सभी प्रकार ग्रहीत किये गए हैं । आज के नाटक भी इन विभेदों में किसी-न-किसी रूप में सम्मिलित किये जा सकते हैं । पर आज समय बहुत परिवर्तित हो चुका है, समय के साथ साहित्य में भी बहुत परिवर्तन हो गए हैं । जिस प्रकार मनुष्य प्राचीन बन्धनों से बँधा नहीं रह सकता, वह निरन्तर विकासशील है, उसके विकास की गति भी अवरुद्ध नहीं है । उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल ही कला और साहित्य भी निरन्तर विकासशील है, वे बन्धनों में नहीं जकड़े जा सकते, समय और युग की माँग के परिणामस्वरूप उनमें निरन्तर विकास की गुञ्जाइश रहती है । अतः आज के नाटकों की समस्याएँ प्राचीन नाटकों से भिन्न हैं, इस कारण ये प्राचीन नाटकों से रूप, शैली और रचना-पद्धति में भिन्न हैं । उनकी समीक्षा और विवेचना के लिए भी हमें नये आदर्शों और मापदण्डों का आश्रय लेना पड़ेगा ।

१०. उपरूपक के भेद

उपरूपक के अठारह भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) नाटिका, (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) रासक, (६) काव्य, (७) उल्लास्य,

(८) प्रस्थानक, (९) नाट्य रसिक, (१०) प्रेक्षण, (११) श्री गदित, (१२) संलापक, (१३) शिल्पक, (१४) माणिका, (१५) हल्लीश, (१६) विलासिका, (१७) दुर्मल्लिका तथा (१८) प्रकरणिका ।

नीचे हम इन सबकी रूप-रेखा का संक्षेप से परिचय देंगे—

१. नाटिका की कथा कल्पित होती है इसमें शृंगार रस की प्रधानता होती है । इसमें चार अङ्क होते हैं । वस्तुतः यह नाटक और प्रकरण का मिश्रित रूप ही है । इसमें स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है । नायक कोई धीर ललित राजा होता है, और नायिका अनुरागवती सुन्दरी गायिका ।

२. त्रोटक में शृङ्गार रस की प्रधानता होती है । किन्तु विदूषक की व्यवस्था प्रत्येक अङ्क में रहती है । देवता तथा मनुष्य दोनों ही पात्रों के रूप में रहते हैं । शेष बातें नाटिका के समान होती हैं ।

३. गोष्ठी में केवल एक अङ्क होता है । स्त्री-पात्रों की अपेक्षा पुरुष-पात्रों की संख्या अधिक होती है, शृङ्गारपूर्ण कामुकता का वातावरण इसमें अधिक रहता है ।

४. सट्टक के अङ्क यवनिका कहलाते हैं और इसमें अद्भुत की प्रधानता रहती है । शेष बातें नाटिका के सदृश होती हैं ।

५. रसिक में केवल एक अङ्क होता है । इसका नायक मूर्ख और नायिका प्रसिद्ध स्त्री होती है । पात्रों की संख्या ५ तक ही रहती है । इसकी भाषा में भिन्नता रहती है ।

६. काव्य में हास्य रस की प्रधानता होती है । गीतों की संख्या भी पर्याप्त होती है । नायक-नायिका श्रेष्ठ कुलोद्भव होते हैं, इसमें एक ही अङ्क रहता है ।

७. उल्लास्य में शृङ्गार, करुण, तथा हास्य रस की प्रधानता रहती है । कथानक असाधारण होता है । चार नायिकाएँ होती हैं, नायक धीरोदात्त होता है ।

८. व्यवस्थापक में दोन चरित्रों का बाहुल्य रहता है, नायकों की संख्या दस होती है, तो नायिका एक ही होती है, और वह भी दासी । इसमें दो अंक होते हैं ।

६. नाट्य-रसिक में हास्य और शृङ्गार का मिश्रण रहता है। एक सुन्दरी इसकी नायिका होती है। इसका एक ही अंक होता है।

१०. प्रेक्षण का नायक दीन पुरुष होता है। इसमें विष्कम्भक, सूत्रधार तथा प्रवेश का अभाव रहता है। प्रेक्षण का एक ही अंक होता है।

११. श्रीगदित का नायक धीरोदात्त होता है, इसकी कथा प्रसिद्ध होती है, जो कि एक ही अंक में कही जाती है।

१२. संलापक में न तो शृङ्गार रस होता है और न करुण ही; क्योंकि इसमें सन्नाह, संघर्ष-विघर्ष और भगदड़ का वर्णन रहता है। इसका नायक धूर्त पाखण्डी होता है। इसके अंकों की संख्या कुल चार होती है।

१३. शिल्पक का नायक ब्राह्मण और उपनायक दीन पुरुष होता है। इसमें शान्त और हास्य के अतिरिक्त शेष सभी रसों का समावेश हो सकता है। इसमें कुल चार अंक होते हैं।

१४. भणिका भाण की तरह का ही उपरूपक है। इसमें हास्य की प्रधानता होती है। इसका नायक मूर्ख किन्तु नायिका अत्यन्त चतुर होती है। इसमें एक ही अंक होता है।

१५. हल्लोश में संगीत का प्राधान्य होता है। नायक एक उदात्त पुरुष होता है। स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है। इसमें भी एक ही अंक होता है।

१६. विलासिका में हास्य की व्यवस्था आवश्यक थी। इसका नायक गुणहीन परन्तु वेश-भूषा से आकर्षक होता है। इसमें भी एक ही अंक रहता है।

१७. दुर्मल्लिका में ४८ घड़ियों का व्यापार वर्णित होता है, इसका नायक छोटी जाति का होता है, परन्तु उसमें चातुर्य का अभाव नहीं होता। इसके चार अंक होते हैं।

१८. प्रकरणिका का नायक तथा नायिका व्यापारिक जाति से सम्बन्धित होते हैं। यह प्रकरण के जोड़ का उपरूपक है। बहुत-सी बातें इसमें प्रकरण के सदृश ही हैं।

प्राचीन समय में रूपक के इन सभी उपभेदों पर रचना हुई हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हाँ, प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि से इन लक्षणों तथा परिभाषाओं का महत्त्व अवश्य है।

११. भारतीय नाटक

भारतीय नाटकों का उदय किन परिस्थितियों में और कब हुआ, यह कह सकना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि प्रामाणिक तथ्यों के अभाव में केवल अनुभावों के आधार पर ही एतद्विषयक सम्पूर्ण निर्णय आधारित है, प्राचीन काल के नाट्य-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में इस विषय का वर्णन अवश्य है, और उनके आधार पर ही सम्पूर्ण निर्णय किये जाते हैं।

ऋग्वेद में संवादात्मक तत्त्वों की कमी नहीं, सरमा और पणिस, यम तथा यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के सवाद इसके प्रमाण हैं। यज्ञ के अवसर पर दोनों पक्षों की संवादात्मक ऋचाओं का गान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा होता था। नाट्य-वस्तु के लिए आवश्यक काव्य और आख्यान-तत्त्व की भी वेद में कमी नहीं थी। इस प्रकार नाटकों की सम्पूर्ण सामग्री वेदों में विद्यमान थी। आचार्य भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र' नामक ग्रन्थ इस विषय का सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, उसमें नाट्य की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार कही गई है कि त्रेता के प्रारम्भ में देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर प्रार्थना की कि हमारे मनोरंजन के लिए किसी ऐसी सामग्री का निर्माण कर दे कि जिसे देखकर हम अपना दुःख भूलकर आनन्द प्राप्त कर लिया करें। कहते हैं कि ब्रह्मा ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, और 'नाट्य-वेद' को पाँचवे वेद के रूप में जन्म दिया। 'नाट्य-वेद' के निर्माण में ऋग्वेद से सवाद, यजुर्वेद से अभिनय-कला, सामवेद से सगीत और अथर्ववेद से रस लिया गया। विश्व-कर्मा ने रंगमंच की रचना की, शिवजी और पार्वती ने क्रमशः ताण्डव और लास्य नृत्य किया, और विष्णु ने चार नाट्य-शैलियाँ बतलाकर इस कार्य को पूर्णता प्रदान की। भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों की सहायता से इसका अभिनय किया।

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय नाटकों का पर्याप्त अध्ययन किया है। विद्वानों का एक दल तो भारतीय नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ मानता है। प्राफेसर मैक्समूलर, डॉक्टर लेवी इत्यादि इसी दल से सम्बन्धित हैं। दूसरे दल का कथन है कि भारतीय नाटकों का विकास लौकिक और सामाजिक कार्यों से हुआ है। प्राफेसर हिलेब्राँ और प्राफेसर कोनो इसी मत के समर्थक हैं। पिशल इत्यादि विद्वानों का मत है कि भारतीय नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ है।

इन विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न प्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रो० मैक्समूलर और डॉक्टर लेवी वैदिक ऋचाओं के गायन से नाटकों का उदय मानते हैं। पिशल ने नाटक में प्रयुक्त 'सूत्रधार' शब्द द्वारा नाटकों को कठपुतलियों के सूत्र के निकट ला खड़ा किया है। डॉक्टर रिजवे ने वीर-पूजा की भावना से नाटक का उदय माना है।

किन्तु यह तो सर्वमान्य ही है भारतीय जीवन में सदा धर्म की प्रधानता रही है। क्या लौकिक, क्या सामाजिक और क्या दार्शनिक सभी क्षेत्र धार्मिक भावनाओं से आच्छादित हैं। वस्तुतः हमारे यहाँ मानव-जीवन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं जो कि धर्म से बाहर रह जाता हो। ऐसी परिस्थिति में भारतीय नाटकों का मूल धर्म से बाहर खोजना युक्तियुक्त और सगत प्रतीत नहीं होता। नाटकों का उदय निश्चय ही धार्मिक कृत्यों तथा रीति-रिवाजों से हुआ मानना चाहिए। हाँ, बाद में उनका सम्बन्ध लौकिक और सामाजिक जीवन से भी हो गया और सामाजिक उत्सवों पर मनोरंजन के लिए उनका अभिनय होने लगा।

भारतीय नाटक की प्राचीनता—हम लिख चुके हैं कि नाटक के काव्यात्मक, आख्यानात्मक तथा संवाद वास्तव में नाटक के प्रारम्भिक रूप हैं। इनकी गणना नाटकों में भी की जा सकती है। वह संवाद वस्तुतः बाद में पुराणों की कथा और कालिदास के नाटकों के आधार बने।

यद्यपि वैदिक काल में नाट्य-सामग्री का अभाव नहीं था, तथापि यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है कि नाटकों का सृजन वैदिक काल में प्रारम्भ हो चुका था या नहीं। 'नाट्य' पर लिखा गया सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र' है। 'नाट्य-शास्त्र' और भरत मुनि का एक निश्चित समय निर्धारित करना तो निश्चय ही कठिन है, किन्तु इतना तो आज स्वीकार ही किया जाता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व ही हो चुका था। इससे यही सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्ध के जन्म से पूर्व भारतीय नाट्य-साहित्य पर्याप्त समृद्ध और उन्नत था, और उस समय तक अनेक लक्षण-ग्रन्थ तथा नाटक रचे जा चुके थे। एक बात तो निश्चित ही है कि लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण से पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थों का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हो जाता है, इस दृष्टि से भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व नाटकों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी होगी। 'नाट्य-शास्त्र' में भी 'त्रिपुर-दाह' और 'अमृत-मंथन' के

खेले जाने का उल्लेख मिलता है। 'वाल्मीकि रामायण' में भी अभिनेताओं के संघों का उल्लेख मिलता है :

वधूनाटक संघेऽच संयुक्ता सर्वतः पुरीम् ।^१

यद्यपि 'वाल्मीकि रामायण' में नाटक या नाटककारों का उल्लेख नहीं है तथापि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय नाटकों का अभिनय अवश्य होता था, तभी तो अभिनेताओं के संघ भी स्थापित थे । 'रामायण' में अन्यत्र भी उत्सवों पर नट-नर्तकों के अभिनय द्वारा आनन्द की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है :

वाद्यंति तदा शांतिं लासयन्त्यापि चापरे ।

नाटकान्प्रपरे स्माह्वर्हस्यानि विविधानि च ॥^२

'हरिवंश पुराण' में 'राम-जन्म' तथा 'रंभाभिसार' नामक दो नाटकों के खेले जाने का उल्लेख मिलता है। सुप्रसिद्ध व्याकरण-विशेषज्ञ पाणिनि ने भी अपने व्याकरण-सूत्रों में शिलालिन् और कृशाश्व नामक नाट्य-शास्त्र के दो आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि का समय ईसा से ४०० पूर्व निश्चित किया जाता है। 'महाभाष्य' के रचयिता महर्षि पतंजलि ने भी अपने ग्रन्थ में 'कंस-वध' तथा 'बलि-वध' नामक दो नाटकों के खेले जाने का उल्लेख किया है। आज से २५०० वर्ष पूर्व रचे गए बौद्धों के 'विनय पिटक' तथा 'जैन-कल्प सूत्रों' में ऐसी ही कथाओं का उल्लेख किया गया है, जिससे यह विदित हो जाता है कि उस समय नाटकों का पर्याप्त प्रचलन था और भिक्षुक और श्रावक भी नाटक देखने से नहीं रुकते थे।

बौद्ध-युग के प्रेक्षा-गृह भी प्राप्त हुए हैं। सुरगुजा रियासत में प्राप्त प्रेक्षा-गृह इसका प्रमाण है। अतः उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण, महाभारत तथा बौद्ध-काल में नाटकों का बहुत प्रचलन था, उनका निरन्तर विकास हो रहा था। जन-साधारण तथा समृद्ध वर्ग सभी इनमें भाग लेते थे, और अनेक स्थानों पर उच्चकोटि के प्रेक्षा-गृह भी निर्मित हो चुके थे।

भारतीय नाटकों की विशेषताएँ—अपने विशिष्ट वातावरण में विकसित

^१ बाल काण्ड, सर्ग १४, श्लोक ५।

^२ अयोध्या काण्ड, सर्ग ६६, श्लोक ४।

होने के कारण यूरोपीय नाटकों की अपेक्षा भारतीय नाटकों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिन्हें हम संक्षेप से इस प्रकार रख सकते हैं—

१. भारतीय नाटककारों ने कार्य-विचार-सम्बद्धता तथा एकता का विशेष ध्यान रखा है। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों को घटनाओं की कार्य-कारण-शृंखला में आबद्ध रखा है।

२. हमारे यहाँ प्राचीन नाटकों के कथानक प्रायः धार्मिक ग्रन्थों से ही लिये गए हैं, उनमें प्रारम्भ से अन्त तक आशीर्वादपूर्ण श्लोक और पद्य रहते हैं। जहाँ यूरोपीय नाटककारों ने अपने नाटकों का विषय मनुष्य को बनाया है, और उसकी आन्तरिक तथा बाह्य सबलताओं तथा निर्बलताओं का चित्रण करके चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी अपनी कुशलता का प्रदर्शन किया है, वहाँ भारतीय नाटककारों का उद्देश्य सदा ही प्रकृति-चित्रण रहा है। उन्होंने अपनी आदर्शवादी भाव-धारा के अनुसार प्रकृति के संसर्ग से ही मनुष्य को विकसित और शिक्षा ग्रहण करते हुए चित्रित किया है। विश्व-प्रकृति का जैसा विराट् तथा अनुपम चित्र हमें भारतीय नाटकों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। उनके लिए प्रकृति ही यथार्थ शिक्षा देने वाली है।

३. भारतीय मस्तिष्क समन्वयवादी है, उसने परस्पर-विरोधी भावनाओं और आदर्शों में सदा समन्वय करने का प्रयत्न किया है। सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आनन्द तथा विषाद सभी उसकी दृष्टि में भूमा के वरदान हैं और उन्हें वरदान-स्वरूप स्वीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण है। उसी अवस्था में पहुँचकर मनुष्य उच्च आनन्द को प्राप्त कर सकने का अधिकारी हो सकता है। हमारे प्राचीन जीवन में आदर्श-प्रधान आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहा है, इसी कारण प्राचीन नाटककारों ने मनुष्य-जीवन को कभी दुःखान्त रूप में चित्रित नहीं किया। हाँ, यहाँ दुःखात्मक नाटकों की कमी नहीं। किन्तु उनका अन्त सदा ही सुखात्मक रूप में होता है। इसका कारण यह भी है कि हम एक विशिष्ट समन्वयवादी विचार-धारा के अनुगामी हैं, और हमारे साहित्य का एक उद्देश्य आस्तिकता और ईश्वरीय न्याय में विश्वास का प्रचार करना रहा है। यदि भगवान् राम या राजा हरिश्चन्द्र को इतनी आपत्तियों और कष्ट भेलने के अनन्तर भी सफलता और यश की प्राप्ति न होती तो क्या हमारी ईश्वरीय न्याय-सम्बन्धी भावना पर टैस न पहुँचती? इन दुःखों और आपत्तियों के

पश्चात् उनकी सफलता सत्य और न्याय की विजय की द्योतक होती है। इस प्रकार भारतीय नाटकों में दुःख और शोक की उपेक्षा तो नहीं हुई, किन्तु जोर इस बात पर दिया गया कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिए। बिना आत्म-त्याग और आत्म-विस्तार के आत्मोन्नति नहीं होती, और बिना आत्मोन्नति के आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। भारतीय नाटकों में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

४. पाश्चात्य नाटकों की अपेक्षा भारतीय नाटकों में आदर्श चरित्रों की प्रधानता है। जैसा कि पीछे नायकों के वर्णन में लिखा जा चुका है कि नायक को श्रेष्ठ कुलोद्भव और सब प्रकार के सद्गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार के नायकों में विकास की गुञ्जाइश नहीं रहती थी। किन्तु जनता की नैतिक भावनाओं पर आघात न पहुँचने देने के लिए ही उन्हें इस रूप में चित्रित किया जाता था। दूसरे नाटक में महत् विषय के प्रतिपादन के लिए ऐसा आवश्यक भी था।

५. प्रारम्भिक काल में नाटकों का अभिनय धार्मिक कृत्यों और उत्सवों पर होता था, किन्तु बाद में उनका प्रचलन सामाजिक तथा प्रकृति-सम्बन्धी उत्सवों के अवसर पर भी हो गया। ऋतु-सम्बन्धी उत्सवों—बसन्त तथा शरदादि ऋतुओं—पर नाटकों के अभिनय की विशेष व्यवस्था रहती थी।

१०. संस्कृत के कुछ प्रमुख नाटककार

अश्वघोष को यद्यपि हम संस्कृत का सर्वप्रथम नाटककार तो नहीं कह सकते, किन्तु इनसे पूर्व के नाटककारों के विषय में हमें अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका, अतः इन्हीं ही प्रथम स्थान देना पड़ेगा। अश्वघोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध ठहराया गया है। प्रोफेसर लूडर्स (Luders) को खोज करते हुए तुर्फान में ताल-पत्र पर लिखे हुए इनके 'शारिपुत्त-प्रकरण' नामक नाटक के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं। इसकी प्रामाणिकता निश्चित हो चुकी है। अश्वघोष एक बौद्ध-कवि है, इन्होंने 'बुद्ध-चरित्र' और 'सौंदरानन्द' नामक दो प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ रचे हैं। इन्होंने अपने नाटकों में भी बौद्ध-मत के प्रचार की प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया है। अभी इनके जीवन पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका।

भास का उल्लेख कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है, इनके रचे हुए

‘स्वप्नवासवदत्ता’, ‘चाणूदत्त’, ‘प्रतिमा’ तथा ‘अभिषेक’ आदि १३ नाटक खोजे जा चुके हैं। १६१२ ई० में पं० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर ये प्रकाशित भी हो चुके हैं। ‘स्वप्नवासवदत्ता’ भास का प्रमुख नाटक है। इसका नायक वत्सराज उदयन है और नायिका अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता। इसमें करुण रस की प्रधानता है। उदयन का चरित्र बहुत करुणापूर्ण और उत्कृष्ट है। भास ने मानव-प्रकृति और चरित्र के अध्ययन में बहुत सूक्ष्मता प्रदर्शित की है। वस्तुतः यह एक श्रेष्ठ और कल्पना-प्रधान आदर्श नाटक है।

‘उरुभंग’ भी भास के प्रमुख नाटकों में से एक है। संस्कृत का यह सर्व-प्रथम दुःखान्त नाटक कहा जाता है। किन्तु इसे दुःखान्त कहना उपयुक्त नहीं, क्योंकि दुर्योधन की मृत्यु से किसी को खेद नहीं होगा।

भास के जीवन के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कालिदास ने ‘मालविकाग्निमित्र’ में अपने से पूर्व के जिन नाटककारों का उल्लेख किया है उनमें केवल भास के ही नाटक उपलब्ध हुए हैं। शेष सौमिल्ल और कवि-पुत्र के न तो अभी तक नाटक ही उपलब्ध हुए हैं, और न उनका जीवन-चरित्र ही ज्ञात हो सका है।

महाकवि कालिदास विश्व-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में हैं। ‘शकुन्तला’ के अनुवाद से ही भारतीय नाटक-साहित्य की ख्याति सम्पूर्ण विश्व में फैली और तभी भारतीय नाट्य-साहित्य का अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। ‘अभिज्ञान-शाकुन्तल’ के अतिरिक्त महाकवि के ‘विक्रमोर्वशीय’ तथा ‘मालविकाग्निमित्र’ दो प्रसिद्ध नाटक हैं। ‘अभिज्ञान-शाकुन्तल’ कवि का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में इस नाटक में एक गम्भीर परिणति का भाव परिपक्व होता है। वह परिणति फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में और स्वभाव से धर्म में सम्पन्न हुई है। जर्मनी के विश्व-विख्यात कवि गेटे ने शकुन्तला की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसमें स्वर्ग और मर्त्य के मिलन की मुग्धता का वर्णन किया है। वस्तुतः ‘शकुन्तला’ भारतीय जीवन के चरम आदर्श की अभिव्यक्ति है, और उसमें भारतीय संस्कृति सार रूप में संग्रहीत है।

‘शकुन्तला’ का अनुवाद संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में हो चुका है। कालिदास का समय ईसा से लगभग आधी शताब्दी पुराना माना गया है।

शूद्रक कालिदास से पूर्ववर्ती और भास से परवर्ती नाटककार हैं। अभि

तक इसका समय निश्चित नहीं किया जा सका। कुछ अन्वेषकों का विचार है कि शूद्रक आन्ध्र देश का शासक था। 'मृच्छकटिक' शूद्रक का प्रसिद्ध नाटक है। इसमें १० अंक हैं।

विशाखदत्त के लिखे हुए दो नाटक बतलाए जाते हैं—'मुद्राराक्षस' तथा 'देवीचन्द्रगुप्तम्'। 'मुद्राराक्षस' लेखक का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसमें चाणक्य के राजनीतिक दाव-पेंचों का बहुत आकर्षक और रोचक वर्णन किया गया है। राजनीतिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्व है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' अभी तक अधूरा ही प्राप्त हुआ है।

विशाखदत्त का समय ईसा की छठी शताब्दी माना गया है।

श्रीहर्ष थानेश्वर तथा कान्यकुब्ज के यशस्वी राजा थे। ये जहाँ स्वयं कवि और नाटककार थे, वहाँ कवियों के आदर्श आश्रयदाता भी थे। हर्ष ने 'नागानन्द' नामक एक नाटक और 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' नाम की दो नाटिकाएँ लिखी हैं।

श्रीहर्ष का समय ईसा की ७वीं शताब्दी माना जाता है।

भवभूति कालिदास की टक्कर के नाटककार थे। वह वेद-शास्त्र तथा काव्य-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। 'उत्तर-रामचरित', 'महावीर-चरित' तथा 'मालती-माधव' इनके तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। 'उत्तर-रामचरित' इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है, इसमें सीता जी के वनवास का वृत्तान्त है। करुण रस की इसमें प्रधानता है। 'महावीर-चरित' में श्रीराम की लंका-विजय तक की कथा है। 'मालती-माधव' एक प्रेम-कथा है।

यदि कालिदास को शृङ्गार-वर्णन में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है तो इन्हें करुण रस में। करुण रस का जैसा समुचित परिपाक 'उत्तर-रामचरित' में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि नाट्य-कला के सूक्ष्म समीक्षकों का यह मत है कि भवभूति को अभिनय की दृष्टि से इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी कि काव्य-कौशल की दृष्टि से, तथापि कालिदास के अतिरिक्त संस्कृत-नाटककारों में भवभूति की टक्कर का और कोई नाटककार नहीं।

भवभूति का समय ईसा की ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है।

महाराज महेन्द्र विक्रमसिंह पल्लव-नरेश सिंह विष्णू वर्मा के पुत्र थे, साँची इनकी राजधानी थी। यह संस्कृत के सर्वप्रथम प्रहसन-लेखक हैं। 'मत विलास'

संस्कृत का प्राचीनतम प्रहसन है। इसमें लेखक को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। प्रहसन में अश्लीलता और कृत्रिमता का अभाव है।

इन प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त भट्टनारायण (१५वीं शताब्दी) ने 'वेणी संहार', मुरारि कवि (१६वीं शताब्दी) ने 'अनर्घ-राघव', राजशेखर (१६वीं शताब्दी) ने 'कर्पूर-मंजरी', 'बाल-रामायण', 'बाल-भारत' तथा कृष्णमिश्र (११वीं शताब्दी) ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक लिखकर अपने नाट्य-कौशल का परिचय दिया है।

११वीं शताब्दी के पश्चात् यद्यपि क्षेमेश्वर और दामोदर मिश्र ने क्रमशः 'चण्डकौशिक' और 'हनुमन्नाटक'-जैसे नाटक लिखे, परन्तु सामूहिक रूप से उस समय तक संस्कृत-नाटकों का ह्रास प्रारम्भ हो चुका था। नाटकों की रचना तो होती ही रही, किन्तु कालिदास और भवभूति-जैसे कलाकार उत्पन्न न हो सके।

राजनीतिक अशान्ति और देश-भाषाओं के प्रचार और प्राधान्य के कारण संस्कृत-नाटकों का ह्रास प्रारम्भ हुआ।

१३. हिन्दी-नाटक

संस्कृत की विस्तृत नाटक-परम्परा को उत्तराधिकार में प्राप्त करने पर भी हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास आधुनिक युग में ही हुआ, जिसमें कि राजनीतिक अशान्ति व्याप्त थी, और मनोरंजक साहित्य की रचना करना सर्वथा असम्भव था। मुगल-राज्य के समृद्धिपूर्ण दिनों में भी, जब कि राजाओं के आश्रय में कविता विलास का साधन बन चुकी थी और हिन्दी का कवि आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो चुका था, न तो हिन्दी में नाटकों की रचना ही हो सकी और न उनके अभिनय के लिए रंगमंच की स्थापना ही हुई।

वस्तुतः उस समय का काव्य पतनोन्मुख था, उस समय की संस्कृति निरन्तर ह्रासशील थी। इस कारण तत्कालीन समाज में उस गतिशील शक्ति (Dynamic energy) का और सामाजिकता का अभाव था, जो कि नाट्य-साहित्य की मूलभूत प्रेरणा का कार्य करती है। रीतिकालीन जीवन तथा समाज में एक प्रकार की गतिहीनता और एकान्तिकता आ चुकी थी। भक्ति युग में यद्यपि वैयक्तिक विकास अवश्य हो रहा था तथा धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन भी बढ़ रहा था, परन्तु उन सबके मूल में एक प्रकार की उदासी और एकान्तप्रियता की भावना बढ़ रही थी। जन-साधारण सांसारिक बन्धनों से, सामाजिक

कर्तव्यों से और जीवन की गतिशीलता और उत्साह से पराङ्मुख होकर अपने वैयक्तिक विकास के लिए इच्छुक था। तत्कालीन कवियों और साहित्यिकों में सामाजिक सम्पर्क की कमी और एकान्त-प्रियता की भावना का आधिपत्य था। कबीर, सूर तथा दादू आदि कवियों के काव्य में आत्म-चिन्तन की प्रधानता और सामाजिकता का अभाव है। केशव और बिहारी आदि कवियों के काव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता है।

उत्साह, गतिशीलता और सामाजिकता के अभाव के अतिरिक्त मुगल-शासन के ह्रास के साथ देश में राजनीतिक अशान्ति का फिर बोल-बाला हो गया, राष्ट्र में अनेक उत्पात तथा ऊधम प्रारम्भ हो गए। ऐसी अवस्थाओं में नाट्य-साहित्य का विकास कठिन हो गया।

एक बात और। नाटको के समुचित विकास के लिए गद्य की परिपक्वता आवश्यक है। मुगल-राज्य की शान्ति और समृद्धि के दिनों में भी हिन्दी-गद्य अविकसित था, इसी कारण जो नाटक इन दिनों लिखे भी गए उनमें गद्य के अभाव में स्वाभाविकता न आ सकी। सब वार्तालाप और कथोपकथन पद्य में ही लिखे गए।

इस प्रकार हिन्दी-नाट्य-साहित्य के शीघ्र विकसित न होने के कारणों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. प्रारम्भ काल की राजनीतिक अशान्ति और उथल-पुथल।
२. दार्शनिक वाद-विवाद का आधिपत्य। वैयक्तिक विकास की प्रमुखता और सामाजिक सम्पर्क का अभाव।
३. जन-सामान्य में लौकिक जीवन के प्रति उत्साह की कमी। जातीय जीवन में गतिशीलता का अभाव।
४. नाटकीय कथोपकथन के समुचित विकास के लिए विकसित गद्य का अभाव।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य की परम्परा—यदि हम हिन्दी-नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से मानें तो यह अनुचित न होगा। क्योंकि भारतेन्दु के पूर्ववर्ती नाटककारों के नाटक न तो नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से सफल कहे जा सकते हैं और न रंगमंच की दृष्टि से ही। रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह (आनन्द रघुनन्दन) तथा भारतेन्दु बाबू के पिता बा०

गोपालचन्द्र 'गिरधर' (नहुष) इसके निश्चय ही अपवाद हैं, किन्तु हिन्दी-नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा का विकास तो भारतेन्दु के पश्चात् ही होता है; क्योंकि उनसे पूर्व गद्य अभी परिपक्व अवस्था में न था। उनके साथ ही गद्य का रूप स्थिर हुआ, और नाटकों की अविरल रचना प्रारम्भ हुई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद के नाटकों का काल-विभाजन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) विकास-काल (भारतेन्दु युग सन् १८६७ से १८७४), (२) संक्रान्ति-काल (सन् १८७५ से १८९५), तथा (३) नवीन काल (प्रसाद युग तथा प्रसादोत्तर युग सन् १८९५ से आज तक)।

विकास-काल के सर्व प्रमुख नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। उन्होंने हिन्दी-नाटकों की प्रारम्भिक रूपरेखा का निर्माण किया और अभिनय के उपयुक्त नाटकों की रचना की। भारतेन्दु बाबू के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता उनका अभिनय के उपयुक्त होना है। वे स्वयं अपने नाटकों के अभिनय में भाग लेते थे और रंगमंच की सब विशेषताओं से भली-भाँति परिचित थे। भारतेन्दु बाबू ने बहुत-से मौलिक नाटक लिखे हैं और कुछ का अन्य भाषाओं से अनुवाद किया है।

भारतेन्दु बाबू के समकालीन नाटककारों में लाला श्रीनिवासदास तथा राधाचरण गोस्वामी और किशोरीलाल गोस्वामी प्रमुख हैं।^१ रंगमंच और

१. भारतेन्दु से पूर्ववर्ती नाटककार और उनके नाटक इस प्रकार हैं—

- (क) मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर (पारिजात-हरण, रुक्मिणी-परिणय)
- (ख) बनारसीदास जैन (समय सार)
- (ग) प्राणचन्द्र चौहान (रामायण महानाटक)
- (घ) हृदयराम (हनुमन्नाटक)
- (ङ) देव कवि (देव-माया-प्रपंच)
- (च) महाराज जसवन्तसिंह (प्रबोध चन्द्रोदय)
- (छ) ब्रजवासीदास (प्रबोधचन्द्रोदय)
- (ज) नेवाज (शकुन्तला)
- (झ) हरिराम (साता-स्वयंवर)

कलात्मकता की दृष्टि से इनके नाटकों का कोई विशेष महत्त्व नहीं। क्योंकि प्रायः इन नाटककारों ने भारतेन्दु जी द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण न करके पारसी-रंगमंच की पद्धति का अनुसरण किया।

इसी समय भारतेन्दु बाबू के परम मित्र पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अनेक प्रहसनों के अतिरिक्त 'गोसंकट नाटक', 'कलि-प्रभाव' और 'हठी हमीर' आदि अच्छे नाटक लिखे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शैली का अनुसरण करने वाले नाटककारों में ये लेखक प्रमुख हैं— दामोदर शास्त्री^१, देवकीनन्दन त्रिपाठी^२, श्रीकृष्ण तकरू^३, ज्वालाप्रसाद मिश्र^४, बलदेवप्रसाद मिश्र^५, तथा तोताराम वर्मा^६ आदि।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने सुन्दर प्रहसन लिखे हैं। 'प्रेमघन' के लिखे हुए नाटक बहुत लम्बे हैं, इसी कारण वे रंगमंच के उपयुक्त नहीं बन पड़े। राधाकृष्णदास तथा राव कृष्णदेवशरण सिंह ने भी सुन्दर नाटक लिखे हैं। बहुत-से धार्मिक नाटक भी इसी समय में लिखे गए थे।

भारतेन्दु युग में ही बंगला, संस्कृत तथा अंग्रेजी से बहुत-से नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किये गए। इन अनुवादकों में राजा लक्ष्मणसिंह बहुत प्रसिद्ध हैं। राजा जी ने 'शकुन्तला' का बहुत सफल और सुन्दर अनुवाद किया है।

भारतेन्दु बाबू और ला० तोताराम ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। इन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत तथा बंगला तीनों भाषाओं के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किये।

भारतेन्दु युग में पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथाओं के अतिरिक्त बहुत-से सामाजिक कथानकों को भी नाटकीय सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया गया। यह युग जागरण का युग था, इसमें समाज-सुधार की भावनाओं की प्रमुखता थी। अतः इस युग के नाटकों में प्रचार तथा उपदेश की मात्रा की अधिकता है। राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की विवेचना बहुत रहती थी। नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि सामाजिक समस्याएँ नाटकों में प्रति-

१. रामलीला। २. सीता-हरण, रुक्मिणी-हरण नाटक, कंस वध नाटक आदि
३. विद्याविलासिनी और सुख सम्बन्धिनी ४. सीता वनवास, बेणी संहार नाटक, विचित्र कवि इत्यादि। ५. मोरारबाई, नन्द-विदा। ६. विवाह-विडम्बना नाटक।

पाद्य विषय के रूप में प्रयुक्त होती थीं। भारतेन्दु के अतिरिक्त शेष नाटककारों के नाटक कलात्मक दृष्टि से शिथिल हैं। किन्हीं नाटकों में कथानक अस्वाभाविक और रंगमंच के अनुपयुक्त है तो किन्हीं में वार्तालाप और भाषा की अपरिपक्वता है। सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त नाटकों में हास्य, व्यंग्य और रोमांस की भी अधिकता रहती थी। भारतेन्दु के परवर्ती नाटककारों ने तो प्रेम-कथाओं को ही अपने नाटकों का विषय बनाया। चरित्र-चित्रण पर अधिक बल नहीं दिया गया।

नाटकीय संगठन और तत्त्वों की दृष्टि से भारतेन्दुकालीन नाटकों में पर्याप्त परिवर्तन प्रारम्भ हो गए थे। मंगलाचरण और भरत-वाक्य का धीरे-धीरे लोप होने लगा, एक ही अङ्क में विभिन्न दृश्यों तथा गर्भाङ्कों का प्रवेश प्रारम्भ हुआ। बंगला-नाटकों की देखा-देखी प्राचीन बन्धनों को शिथिल किया जाने लगा। कथानक में विविध परिवर्तन प्रारम्भ हुए। ऋषि-मुनियों तथा देवी-देवताओं के साथ-ही-साथ पापी, मूर्ख, पाखण्डी इत्यादि सभी प्रकार के पात्रों का समावेश होने लगा। भारतेन्दु के नाटकों के अतिरिक्त शेष नाटककारों के नाटकों में उच्च-कोटि के गीतों का अभाव हो गया। भाषा ब्रज से खड़ी बोली में परिवर्तित होने लगी। इस प्रकार भारतेन्दु-युग के नाटक सभी प्रकार से परिवर्तित हो रहे हैं।

संक्रान्ति-काल में अनुवादों का आधिक्य रहा। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के धड़ाधड़ अनुवाद किये गए। संस्कृत-नाटकों में अनुवाद बहुत कम सफल कहे जा सकते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित 'शकुन्तला' का वर्णन हम पीछे कर आए हैं। इस काल में श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' के अनुवाद किये। इनमें कविरत्न जी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। दोनों अनुवादों के पढ़ते समय मूल का-सा आनन्द आ जाता है। कविरत्न जी के अतिरिक्त रायबहादुर ला० सीताराम ने संस्कृत के कुछेक बहुमूल्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। ये अनुवाद भी काफी सफल समझे जाते हैं।

बंगला के डी० एल० राय तथा गिरीश घोष के नाटकों के विशेष रूप से अनुवाद हुए। इन नाटकों की विशिष्ट शैली, विषय-प्रतिपादन का ढंग और नाटकीय वस्तु सभी हिन्दी-नाटकों के लिए नवीन चीज थी। हिन्दी-नाट्य-साहित्य

के विधान और रूपरेखा पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। रवीन्द्रनाथ के नाटकों के भी अनुवाद हुए, उनकी भावात्मक और संकेतात्मक शैली ने हिन्दी के नाटककारों के सम्मुख नवीन आदर्श प्रस्तुत किया। रूपनारायण पांडेय बंगला नाटकों के अनुवादकों में प्रमुख हैं।

इस काल में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गए हैं, जिनमें से कुछ तो साहित्यिक हैं और कुछ केवल रंगमंच के लिए ही लिखे गए हैं। पं० बद्रीनाथ भट्ट ने 'कुरु-वन-दहन', 'दुर्गावती', 'वेन-चरित्र' तथा 'चन्द्रगुप्त' आदि अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं। भट्ट जी के नाटकों में कथानक का सौन्दर्य, संगीत का माधुर्य और चरित्र-चित्रण की कुशलता तथा हास्य का पुट सभी कुछ मिलता है। पं० माधव शुक्ल तथा मिश्रबन्धुओं ने क्रमशः 'महाभारत' और 'नेत्रोन्मीलन' नामक नाटकों की रचना की। इनके पश्चात् पं० माखनलाल चतुर्वेदी तथा बा० मैथिलीशरण गुप्त ने क्रमशः 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और 'चन्द्रहास' नाटक लिखे। भारतेन्दु-युग की परम्परा का निरन्तर विकासशील रूप हम इन नाटककारों के नाटकों में प्राप्त कर सकते हैं। चतुर्वेदी जी और गुप्त जी के नाटकों ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है।

रंगमंच के उपयुक्त नाटक लिखने वालों में राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र, नारायणप्रसाद 'बेताब', हरिकृष्ण जौहर तथा तुलसीदत्त 'शैदा' इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन नाटककारों के नाटक पारसी-रंगमंच की पद्धति पर लिखे गए थे, इनमें साहित्यिकता का अभाव था। हिन्दी-नाट्य-शैली के प्रचार की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है।

नाटकीय विधान की दृष्टि से यद्यपि संक्रान्ति-काल में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुए तथापि बहुत-से प्राचीन बन्धन जो पहले शिथिल हो गए थे, अब टूट गए; और जो कठोर थे उनमें शिथिलता आ गई। प्राचीन नाटकीय विधि के अनुसार नाटककार नाटकों के प्रारम्भ में ईश्वर-वन्दना और प्रस्तावना रखते थे, अब वह परिपाटी दूर कर दी गई। दृश्य-परिवर्तन और अंकों के विषय में जो कठोरता थी, उसमें अब शिथिलता आ गई। अंकों की संख्या ७ से घटकर केवल ३ ही रह गई। भाषा की दृष्टि से भी ब्रज के स्थान पर खड़ी बोली का प्रचलन बढ़ चला। पद्यों का भी धीरे-धीरे लोप होने लगा। विषय में धार्मिकता का स्थान सामाजिकता और ऐतिहासिकता ने ले लिया। नाटककारों का दृष्टि-

कोण यथार्थवाद से प्रभावित हुआ ।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य में नवीन काल का प्रारम्भ 'प्रसाद' के आविर्भाव से होता है । इस महान् प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार ने हमारे साहित्य के प्रत्येक अंग को सुपुष्ट किया है । उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनका व्यक्तित्व महान् था । उनमें जहाँ भावुकता थी, वहाँ सहज दार्शनिक गाम्भीर्य भी था । प्रसाद जी के नाटकों का क्षेत्र भारत का प्राचीन स्वर्णिम अतीत है । भारत के अतीत से उन्हें विशेष ममत्व था । अपने नाटकों में उन्होंने इसी महान् अतीत को चित्रित किया है । ऐतिहासिक नाटक लिखने के लिए जिस अध्ययन और अन्वेषण की आवश्यकता होती है, वह प्रसाद जी में विद्यमान था । प्रसाद जी के नाटक सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं । रंगमंच के वे उपयुक्त नहीं ।

नाटकीय विधान में भी प्रसाद जी ने अपने नाटकों को प्राचीन परिपाटी से सर्वथा स्वतन्त्र रखा है । मंगलाचरण, नान्दी, सूत्रधार और भरतवाक्य इत्यादि सबको ही उन्होंने त्याग दिया ।

प्रसादजी द्वारा प्रवाहित ऐतिहासिक परिपाटी पर नाटक-रचना होती रही । हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में मुगलकालीन संस्कृति में वर्तमान राजनीतिक समस्याओं के समाधान को खोजने का प्रयत्न किया गया है । प्रेमीजी के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटककारों में सर्व श्री उदयशंकर भट्ट, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, उग्र, सेठ गोविन्ददास इत्यादि प्रसिद्ध हैं ।

प्रसादोत्तर नाटककारों की समस्याएँ और मानसिक पृष्ठभूमि पर्याप्त परिवर्तित हो गई है । समय और युग की माँग के फलस्वरूप नाटकों के आन्तरिक और बाह्य विधान तथा रूपरेखा (Structure) में क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हो गए हैं । स्वगत-भाषण की प्राचीन परिपाटी उठा दी गई है, लम्बे-लम्बे भाषणों का महत्त्व कम कर दिया गया है, पात्र, वेश-भूषा, प्रदर्शन आदि में भी नये-नये परिवर्तन हो गए हैं । गीत और पद्यात्मक अंश विलुप्त हो गए हैं । अंकों की संख्या भी तीन ही निश्चित हो गई है । विषय की दृष्टि से भी बहुत परिवर्तन हो गए हैं । अब नाटककार ऐतिहासिक या पौराणिक कथानकों की अपेक्षा वर्तमान सामाजिक समस्याओं को अधिक महत्त्व देता है । वह मानव-मन की सूक्ष्म मनोवृत्तियों के विश्लेषण पर अधिक बल देता है । प्राचीन पौराणिक और

ऐतिहासिक समस्याओं की भी वह बौद्धिक ढंग से समीक्षा करता है। आधुनिक हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर बर्नाड शॉ, इब्सन तथा गाल्सवर्दी आदि पाश्चात्य नाटककारों का विशेष प्रभाव है। आज के प्रमुख नाटककारों में सर्व श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' तथा पृथ्वीनाथ शर्मा इत्यादि प्रमुख हैं।

भाव-नाट्य-लेखकों में श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, (वरमाला) तथा उदयशंकर भट्ट ('राधा', 'विश्वमित्र', 'मत्स्यगन्धा') श्रेष्ठ हैं। हिन्दी के नाट्य-रूपकों में 'कामना' (प्रसाद), 'ज्योत्स्ना' (पन्त) तथा 'छलना' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी) ने विशेष ख्याति प्राप्त की है।

चल-चित्र के प्रचार तथा लोकप्रियता के कारण नाटक-साहित्य का प्रचार कम हो रहा है।

१४. पाश्चात्य नाटक

पाश्चात्य राष्ट्रों की सांस्कृतिक प्रेरणा के मूल स्रोत ग्रीस और रोम हैं। ग्रीक और रोमन नाटकों के विभिन्न तत्त्वों का सम्पूर्ण यूरोप के नाटककारों पर प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक अवस्था में जिन प्रेरणाओं और आदर्शों का अनुसरण इन दोनों देशों में हुआ उन्हींका अनुसरण बाद में सम्पूर्ण यूरोप में हुआ।

ग्रीक नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ। अनेक धार्मिक उत्सवों और रीति-रिवाजों पर जिन गीतमय नृत्यों का आयोजन रहता था, वही बाद में नाटकों की आधारभूत सामग्री बने। ग्रीक नाटकों के दो रूप प्राप्य हैं, दुःखान्त (ट्रेजेडी) और सुखान्त (कामेडी)।

दुःखान्त-(ट्रेजेडी) नाटकों का उदय वर्षारम्भ के समय डायोनिसस (Deonysus) की प्रसन्नता के हेतु गाये गए गीतों से हुआ है। यह उत्सव जहाँ नव वर्ष के स्वागतार्थ होता था, वहाँ समाप्त होते हुए वर्ष को मृत्यु-दण्ड देने के लिए भी उसकी आयोजना रहती थी। मृत्यु के समय गम्भीर और कष्टनाशनक स्थिति की उपस्थिति आवश्यक ही है। प्रो० रिजवे का मत है कि ग्रीक में दुःखान्त नाटक केवल नव वर्ष के आरम्भ और डायोनिसस की प्रसन्नता के लिए ही आयोजित नहीं किये गए थे, प्रत्युत उनका वीर-पूजा के उत्सवों पर भी आयोजन रहता था। वीरों के जीवन और उनके कष्टों के अनुकरण के कारण दुःखान्त नाटकों में घोर और भयानक घटनाओं का समावेश

रहता था । ट्रेजेडी की कथावस्तु अधिकांशतः भयावह दृश्यों—मृत्यु, हत्या, असह्य पीड़ा-से और भद्दे गीतों से पूर्ण होती थी ।

सुखान्त (कामेडी) नाटकों का उदय भी धार्मिक उत्सव और डाइयोनिसस की पूजा से ही हुआ बतलाया जाता है । इन नाटकों में प्रायः भद्दे गीत, अश्लील और कुश्चिपूर्ण नृत्यों और स्वाँगों की भरमार रहती थी । किन्तु इनमें स्वस्थ व्यंग्य और विनोद की मात्रा का सर्वथा अभाव नहीं होता था । सुखान्त नाटक जीवन के अधिक निकट थे । उनमें राजकीय अधिकारियों को बहुत व्यंग्यपूर्ण आलोचना की जाती थी ।

वस्तुतः ग्रीक नाटकों के ये दोनों रूप अभिनय-कला और नाट्य-कला के समुचित विकास में सहायक न हुए । इन नाटकों का अभिनय नकाब पहनकर किया जाता था, जिससे उनमें स्वाभाविकता नहीं आती थी । रोम में भी ग्रीक नाटकों के अनुकरण पर हास्य-रसपूर्ण नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई, किन्तु रोमन-समाज में अभिनय के कार्य को बहुत तुच्छता की दृष्टि से देखा जाता रहा । अभिनेता और नट प्रायः दास होते थे इसलिए वहाँ भी अभिनय-कला की समुचित उन्नति न हो सकी ।

पाश्चात्य नाटक रोमन नाटकों और अभिनय-कला से विशेष प्रभावित हुए । यूरोप के विभिन्न देशों में नाटकों का अभ्युदय धार्मिक कृत्यों से ही प्रारम्भ हुआ । इङ्ग्लैंड के प्रारम्भिक नाटकों का विषय भी धार्मिक है । 'बाइबिल' की कहानियाँ और साधु-सन्तों के विषय में परम्परागत दन्त-कथाएँ इन नाटकों का आधार होती थी । उनमें कुछ मात्रा में हास्य-रस का भी समावेश रहता था । इन्हीं नाटकों को रहस्य तथा चमत्कार-सम्बन्धी नाटक (Mystery and Miracle plays) कहा जाता है । मिस्ट्री और मिरैकल नाटकों से ही इङ्ग्लैंड के आधुनिक नाटकों का विकास हुआ है । सन् १५७६ में ब्लैक फ्रायर्स-थियेटर (Black friars-theatre) की स्थापना के अनन्तर अंग्रेजी नाटकों का अप्रतिहतगति से विकास प्रारम्भ हुआ । 'लिली', 'पनी', 'ग्रीन', 'लाज', 'मार्लो' आदि नाटककारों का प्रादुर्भाव १६वीं शताब्दी में हुआ । इन नाटककारों ने जहाँ अंग्रेजी नाटकों के रूप को परिवर्द्धित किया, वहाँ अंग्रेजी रंगशालाओं में भी बहुत से प्रशंसनीय सुधार किये ।

सन् १५८७ में शेक्सपीयर ने लन्दन में प्रवेश किया और उसके साथ

अंग्रेजी नाटकों की अभूतपूर्व उन्नति प्रारम्भ हो गई। शेक्सपीयर से पूर्व नाटकों में नैतिकता का आधिक्य था, किन्तु अभिनव प्राचीनतावादी (Neo classic) युग के प्रारम्भ के साथ ही नाटकीय वस्तु में प्रेम का समावेश होने लगा। शेक्सपीयर का प्रादुर्भाव स्वच्छन्द युग (Romantic age) में हुआ। इस युग में प्राचीन रूढ़ियों और बन्धनों की अवहेलना प्रारम्भ हो चुकी थी। युग तथा समय की माँग के फलस्वरूप कथावस्तु में प्रेम का प्राधान्य हो गया और नाटकों में समृद्ध और अभिजात वर्ग को प्रमुखता प्रदान की जाने लगी। नाटकीय विधान (Structure) के नियम परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाए गए। शेक्सपीयर स्वयं अपने नाटकों के अभिनय में भाग लेता था, इसी कारण उसने अपने नाटकों को जहाँ रंगमंच के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया, वहाँ रंगमंच में भी आवश्यक सुधार किये। वह रंगमंच की विशेषताओं से भली-भाँति परिचित था। शेक्सपीयर ने प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों की अवहेलना की। उसने रंगमंच के लिए वर्ज्य दृश्यों को भी रंगमंच पर दिखाया, और सकलन-त्रय-सम्बन्धी नियमों का भी उल्लंघन किया। किन्तु शेक्सपीयर की मौलिकता, प्रतिभा और अनुपम काव्य-चातुरी ने सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। शेक्सपीयर के पश्चात् अंग्रेजी नाटकों का विकास रुक गया। किन्तु इसी समय में यूरोप में कोरनील रेसीन, विकटर ह्यूगो आदि प्रतिभा-सम्पन्न नाटककारों का आविर्भाव हुआ। अंग्रेजी के नाट्य-साहित्य पर भी इन नाटककारों का प्रभाव पड़ा। इन नाटककारों ने मानव-जीवन के सच्चे और वास्तविक चरित्रों को प्रस्तुत किया है।

अंग्रेजी नाटकों में आधुनिक युग का प्रारम्भ डब्ल्यू राबर्टसन (१८२६-१८७१) से माना जाता है। राबर्टसन ने कामेडी-नाटकों के पुनरुत्थान की चेष्टा की और 'सोसाइटी', 'कास्ट' तथा 'आवर्स' नामक नाटक लिखकर इस विषय में पथ-प्रदर्शन किया। राबर्टसन के नाटकों का अभिनय 'प्रिंस आव वेल्स थियेटर' में होता था। वह स्वयं रंगशाला के सुधार में रुचि रखता था, उसने नाट्य-शालाओं के सुधार का पर्याप्त प्रयत्न किया।

इधर नार्वेजियन नाटककार इब्सन के प्रादुर्भाव के साथ पाश्चात्य नाट्य-विधान, विषय और आदर्श में बहुत-से परिवर्तन हो गए। इब्सन ने सर्वप्रथम पाश्चात्य नाटकों में समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया और उसके नाटकीय

विधान को बहुत सरल और स्वाभाविक बना दिया। इब्सन ने सर्वप्रथम अपने नाटकों में जीवन की नित्य-प्रति की समस्याओं को उनके यथातथ्य रूप में रखा। उसने नाटकों में प्राचीन ऐतिहासिक कथाओं के स्थान पर वर्तमान जीवन के यथार्थ को चित्रित किया। वह यथार्थ चित्रण इतना सजीव और स्पष्ट है कि हमें यही मालूम पड़ता है कि मानो हमने इन दृश्यों को कहीं देखा है। इस प्रकार रंगमंच, पात्रों की बातचीत, अभिनय और दृश्य सभी में वास्तविकता आ गई, और वह हमारे दैनिक जीवन के अधिक निकट हैं। इब्सन से पूर्व नाटकों में अभिजात वर्ग और उनकी जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का ही चित्रण रहता था, किन्तु अब नाटकों में जन-साधारण के जीवन को अधिक महत्व दिया जाने लगा। साहित्य के अन्य अङ्गों की भाँति नाटकों में सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं के सुलभाव में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया। पात्रों की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के चित्रण के साथ उनके आन्तरिक घात-प्रतिघात का भी बहुत सजीव और स्पष्ट चित्रण किया गया। अब नेपथ्य, आकाश-भाषित और स्वगत-कथन आदि नाट्य-शैली के प्राचीन अस्वाभाविक तरीकों को दूर कर दिया गया है।

इंग्लड में जब इब्सन के नाटकों का सर्वप्रथम अभिनय किया गया तो उसकी बहुत तीव्र आलोचनाएँ की गई। इब्सन ने मानव-जीवन के उस अन्ध-कारमय पक्ष का उद्घाटन किया था जिसके वर्णन का आज तक कोई भी नाटककार साहस नहीं कर सका। किन्तु धीरे-धीरे इब्सन की नाट्य-शैली का प्रभाव इंग्लैंड के नाटककारों पर भी पड़ा, और बर्नार्ड शॉ तथा गार्ल्सवर्दी-जैसे प्रसिद्ध नाटककारों ने इब्सन की यथार्थवादी शैली पर रचना प्रारम्भ की। शॉ ने समाज के जीवन के घृण्य दुर्गुणों का स्पष्ट और नग्न चित्रण किया। समाज इसके लिए तैयार नहीं था, फलस्वरूप उनकी तीव्र आलोचना की गई। शॉ का दृष्टिकोण वस्तुतः एक सुधारक का दृष्टिकोण है, वे समाज को उसके दोषों से परिचित कराकर उन्हें दूर करना चाहते हैं। पर शॉ के जीवन-दर्शन की आज बहुत कटु आलोचना की जा रही है।

आधुनिक नाटककारों पर बेल्जियम के सुप्रसिद्ध कवि मारिस मैटरलिक के नाटकों का भी विशेष प्रभाव पड़ा है। मैटरलिक अध्यात्मवादी हैं, उन्होंने अपने नाटकों में मानव-जीवन की गम्भीर आध्यात्मिक समस्याओं की बड़ा विशद

विवेचना की है। मेटर्लिक के 'पेलियास' और 'मेलीसोडा' नामक दो नाटकों के अनेक स्थानों पर बहुत सफल अभिनय किये जा चुके हैं।

अन्योक्ति-प्रधान नाटकों की भी रचना यूरोप में पर्याप्त मात्रा में हो रही है। उनमें कवित्व और प्रतीकवाद (Symbolism) का आधिक्य रहता है। इधर विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों के भी पाश्चात्य देशों में अभिनय किये गए हैं, किन्तु उनका विशेष अनुकरण नहीं हुआ, अंग्रेजी के आधुनिक नाटककारों में डब्ल्यू वी० यीट्स की विशेष प्रसिद्धि है।

इस प्रकार आज पाश्चात्य नाटक यथार्थवादी हो चुका है। उसमें मानव-जीवन को यथातथ्य रूप में चित्रण करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, उसमें स्वाभाविक कलात्मकता का पूर्ण विकास हो रहा है।

पाश्चात्य नाट्य-साहित्य का इतिहास बहुत पेचीदा और उलझा हुआ है। उसमें विभिन्न युगों में अनेक परस्पर-विरोधी आदर्शों का बोल-बाला रहा है, स्थानाभाव से हम उन सबका यहाँ विस्तृत परिचय नहीं दे सके। पाठकों की जानकारी के लिए केवल संक्षिप्त रूप-रेखा से ही सन्तोष कर लिया है।

१५. एकांकी

कला और पृष्ठभूमि—जैन कारणों ने उपन्यास-क्षेत्र में कहानी अथवा गल्प को जन्म दिया, वे ही कारण नाटक-क्षेत्र में एकांकी के जन्म के लिए उत्तरदायी हैं। यन्त्र-युग का मनुष्य अपने दैनिक कार्य-भार में इतना तल्लीन रहता है कि अनेक अंकों और दृश्यों वाला महानाटक देखने अथवा पढ़ने के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता। उसका अधिकांश समय दैनिक कार्य-व्यापार में व्यतीत होता है, अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह मनोरंजन के ऐसे साधनों को अपनाये जो अपेक्षाकृत कम समय में ही पूर्ण हो जायँ। आज का युग प्रायः उसी अर्थ में 'एकांकी नाटक का युग' है, जिस अर्थ में यह कहानी-युग अथवा महाकाव्य के विपरीत गीति-काव्य और मुक्तक काव्य का युग है।

एकांकी का स्थान—एकांकी नाटक विश्व-साहित्य के उपादानों में सर्वथा नवीन वस्तु नहीं है। ग्रीक नाटक में यवनिका के आविर्भाव के पूर्व तथा अंकों के बीच में उनको विभाजित करने के लिए कोरस-गीतों के उपयोग के पूर्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सारे नाटक एकांकी नाटक ही थे। संस्कृत-साहित्य में

एकांकी नाटक सम्भवतः विश्व-साहित्य में सबसे पूर्व लिखे गए थे। संस्कृत-नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों ने नाटक के जो दस प्रधान भेद बतलाये हैं उनमें कम-से-कम पाँच तो स्पष्ट रूप से एकांकी ही थे। इसकी पुष्टि के लिए व्यायोग, अक्र, वीथी, भाण और प्रहसन आदि के नाम बिना किसी संकोच के लिये जा सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक भेद कम-से-कम एक उदाहरण द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। परन्तु फिर भी एकांकी नाटक का यह आधुनिक विकास भारतीय परम्परा से दूर पश्चिम में हुआ है। मध्यकालीन यूरोप में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में अनेक 'इण्टरव्यूड' और भाव-नाटक लिखे गए थे, जो एकांकी नाटक के रूप में ही थे। अपने 'इक्कीस एकांकी नाटक' की भूमिका में एकांकी नाटकों को प्रणाली के सम्बन्ध में 'एक्टीमैन' नामक एक नाटककार ने ऐसे ही नाटक का उल्लेख किया है।

एकांकी का प्रचार—पीछे अठारहवीं शताब्दी में अनेक 'फार्स' और 'बरलेस्व' एकांकी नाटक के रूप में लिखे गए। क्रमशः इस एकांकी नाटक का महत्त्व बढ़ता गया, यह स्मरणीय है कि यही युग मशीन-क्रान्ति का था। नाटकों के प्रारम्भ में दूर से नाट्य-शाला में पहुँचने वाले दर्शकों की प्रतीक्षा में पहले ऐसे ही एकांकी नाटक उपयोग में लाये जाते थे। इस प्रकार जब तक पीछे पहुँचने वाले आराम से अपनी-अपनी जगह पर न बैठ जाते, पहले पहुँचने वालों के सम्मुख ऐसा ही एकांकी नाटक उपस्थित किया जाता। इस प्रकार के एकांकी नाटक को यवनिका-उत्थापक अथवा 'कर्टेन रेजर' कहते थे। परन्तु अठारहवीं शताब्दी से ही अंग्रेजी साहित्य में क्रमशः एक अवनति का युग आ गया था। मौलिकता का सर्वथा अभाव हो चला था। वर्ड्सवर्थ, कालरिज, बायरन और शेले आदि कवियों ने नाट्य-शैली में एक-एक कृति लिखी, पर वे सब रगमच के उपयुक्त न थीं। गिलबर्ट, हेनरी आर्थर, पिनेरो और आस्कर वाइल्ड के साथ फिर जागृति प्रारम्भ हुई। परन्तु नार्वे के प्रसिद्ध विन् इब्सन के द्वारा वस्तुतः नाट्य-जगत् में एक क्रान्ति ही हुई। इंग्लैंड में भी अन्य देशों की भाँति इब्सन का स्वागत हुआ। जार्ज बार्नार्ड शॉ-जैसे प्रख्यात नाटककार भी इब्सन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे और उनसे प्रभावित थे।

इब्सन का प्रभाव—एकांकी नाटक इब्सन के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के पश्चात् ही नये रूप में विश्व के सम्मुख आया। इस कारण यह स्वाभाविक

था कि जन्म के समय से ही वह इब्सनवाद से प्रभावित होता, और यही हुआ भी। अपने जन्म के समय से ही एकांकी नाटक इब्सन के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना न रह सका। वे जन्म से ही केवल राजाओं और बड़े आदमियों को अपना आधार मानकर न चले, बल्कि समग्र मानवता की सेवा में तल्लीन रूप में विश्व के सम्मुख आए। सामाजिक और समस्यात्मक 'वस्तु' की अपेक्षा पुरानी, जीर्ण-शीर्ण ऐतिहासिक 'वस्तु' छोड़ दी गई। इब्सन के अन्य प्रभाव भी प्रारम्भ से ही एकांकी नाटक में स्फुट थे। बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को विशेष प्राधान्य दिया गया। स्वगत और अपवार्य-कथन क्रमशः कम कर दिए गए और छोड़ दिए गए। व्यक्ति की अपेक्षा समाज की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। सारांशतः वे समग्र प्रभाव, जो नाट्य-क्षेत्र में इब्सन के आविर्भाव के अनन्तर पड़े, एकांकी नाटक को उसके जन्म के समय से ही प्रभावित करने में सफल हो गए।

विश्व-साहित्य में एकांकी—इंग्लैंड में प्रायः उसी समय अभिनय और रंगमंच की सज्जा में भी सुधार किये गए। यथार्थ, सत्य, प्रभाव, बुद्धिमत्ता आदि तत्त्व, जो क्रमशः कम होते चले जा रहे थे, पुनः नये रूप में, नाटकों में उपस्थित किये गए। बारकर और वेरेन के नाम इस आन्दोलन के साथ अमर रहेंगे। क्रमशः यह आन्दोलन प्रमुख नगरों तक सीमित न रहकर उपनगरों और छोटे-छोटे कस्बों में भी अपना प्रभाव लेकर गया। इन नये नाट्य-मंचों ने अनेकों नई प्रतिभाओं को लिखना ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाने के लिए प्रेरित किया। एकांकी नाटक के विकास में यूरोपीय समाज की यह सारी घटनाएँ विशेष महत्व रखती हैं।

ऐसी परिस्थितियों में पाश्चात्य देशों में एकांकी नाटक प्रस्फुटित और पल्लवित होता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व ही जार्ज बर्नार्ड शॉ के कुछ एकांकी नाटक अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुके थे। कुल मिलाकर उन्होंने एक दर्जन से भी अधिक अनूठे एकांकी नाटक अंग्रेजी साहित्य को प्रदान किये हैं। अन्य अंग्रेजी नाटककारों में पेट्स, गाल्सवर्दी, बैरिस और सिंग आदि के नाम विशेष महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। गाल्सवर्दी ने अपने एकांकियों द्वारा अत्यन्त गम्भीर और स्पष्ट रूप में सामाजिक समस्याओं को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया है। अमरीकन एकांकी-लेखकों में यूजेन और नील का नाम विशेष

स्मरणीय है ।

परन्तु एकांकी नाटक केवल अंग्रेजी की ही सम्पदा नहीं था । विश्व के अन्य देशों और अन्य साहित्यों में भी वह स्वतन्त्र रूप से विकसित हो रहा था । रूस के एकांकी-लेखकों में ल्योनिड का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उनके 'एक घटना', 'पड़ोसी का प्रेम' और 'प्रिय विदा' नामक एकांकी अधिक लोकप्रिय हुए । बेल्जियन साहित्य में पेरिस को एकांकी नाटककार के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई और स्कैंडेनेवियन में यह स्थान आगस्ट स्ट्रैण्डगर्ग को प्राप्त हुआ ।

बंगला में—भारतवर्ष में अन्य नये साहित्यिक उपादानों की भाँति सबसे पहले बंगला ने ही यूरोप के इस नये नाटकीय रूप को अपनाया । कवीन्द्र रवीन्द्र ने बहुत-से सुन्दर और अनूठे एकांकी नाटक प्रस्तुत किये, इनमें 'चित्रा', 'संन्यासी' और 'मालिनी' के नाम विशेष परिगणनीय हैं । बंगला के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी एकांकी नाटक का प्रणयन प्रारम्भ हुआ । दक्षिण भारत की भाषाएँ भी इस दौड़ में किसी से पीछे न रही । मराठी, गुजराती, पंजाबी और उर्दू आदि प्रत्येक भाषा में एकांकी नाटक प्रस्तुत किये गए । हिन्दी के एकांकी नाटक भी एक नया जीवन लेकर साहित्य में आये ।

अभी हाल में ही एकांकी नाटक विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्ययन का एक अंग बन गया है । मेरियट जार्ज हैम्पटन तथा ग्राड रिचर्ड द्वारा अंग्रेजी एकांकी नाटकों के अनेक संकलन सम्पादित किये गए हैं । युद्धोत्तर-काल में मनोरंजनार्थ अभिनय करने वाले क्लबों ने भी एकांकी नाटकों के विकास में विशेष योग दिया । इस कारण एकांकी नाटक दिन-प्रतिदिन अधिक लोकप्रिय होता चला गया । आज सम्भवतः विस्तृत पूर्ण नाटक की अपेक्षा, एकांकी नाटक के अध्ययन में ही अधिक ध्यान दिया जा रहा है । एकांकी नाटक के प्रणयन की कला का अध्ययन भी अत्यन्त सतर्कता एवं गम्भीरता से किया जा रहा है । यही कारण है कि एकांकी नाटक की कोई भी मीमांसा तब तक अपने आपमें पूर्ण नहीं कही जा सकती, जब तक कि एकांकी नाटक की कला और विधान के विषय में विशेष रूप से परिचय न प्राप्त किया जाय ।

कला और विधान—एकांकी नाटक की रचना कुछ ऐसे साधनों की मांग करती है, जो अब तक नाटक-प्रणेतारों को अज्ञात थे । प्रवेश का विस्तृत

विवरण तथा मंच, स्थान, समय, स्थिति, पृष्ठभूमि, फर्नीचर की सजावट तथा पात्रों की वेश-भूषा आदि का उल्लेख वर्तमान एकांकी नाटक की एक प्रमुख विशेषता है। नाटक का यह भाग नाटककारों द्वारा चारित्रिक विश्लेषण के लिए प्रयुक्त किया गया है। नाटक की गहराई और परिधि की रूपरेखा प्रस्तुत करने में भी इस भाग ने विशेष योगदान दिया है। परिस्थितियों की गम्भीरता अथवा पिछली घटनाओं के संक्षिप्त उल्लेख के लिए भी इस भाग को उपयोग में लाया गया है। इन कारणों से यह भाग नाटककार से विस्तृत अध्ययन, सचयन, सूक्ष्म विश्लेषण, सम्पादन, सजावट और संक्षिप्त निरूपण की माँग करता है। जितना ही महान् नाटककार होगा, यह भाग उतना ही सफल बन सकेगा और एकांकी भी उतनी ही सफलता प्राप्त कर सकेगा। सम्भवतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पाठकों के ऊपर अच्छा प्राथमिक प्रभाव डालने के लिए नाटक के इस भाग के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए। यह भूमिका केवल आकर्षक न होकर संक्षिप्त भी होनी आवश्यक है। इस विषय में यही अमूल्य नियम है कि कम-से-कम शब्दों में अधिक भाव भर दिया जाय। दूसरी ओर यह भाग नाटककारों को कुछ लाभ भी पहुंचाता है। इस स्थल पर वह सब-कुछ कहने के लिए स्वतन्त्र है। जिस बात को अन्यथा सिद्ध करने में बहुत-सा संवाद प्रयुक्त करना पड़ता, उसी बात को यहाँ सीधे रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। पुराने नाटकों में दृश्यों की सज्जा नहीं होती थी और न अन्य आधुनिक उपाय ही प्रयुक्त किये जाते थे। इसी कारण नाटककार समय, स्थिति, जलवायु तथा दृश्यों की अन्य बातों को स्पष्ट करने के लिए संवाद पर ही अवलम्बित रहता है। एकांकी नाटकों में आधुनिक रंगमंचीय उपायों के अतिरिक्त यह दृश्य-स्थिति-विवरण वाला अंग नाटककार को इस बात के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान कर देता है कि वह अपने और श्रोताओं के बीच की दूरी कम कर सके।

आधुनिक एकांकी नाटकों के संवादों के विषय में भी कुछ कहना उपयोगी है। उनकी भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। छन्द अथवा मुक्तक छन्दों का उपयोग तो एकांकी नाटकों में कभी स्थान न प्राप्त कर सका। संसार के सबसे सुन्दरतम एकांकी नाटक गद्य में ही लिखे गए हैं। गद्य के उपयोग के समय भी इस बात का ध्यान रखा गया है कि जहाँ तक सम्भव हो बोल-चाल की भाषा को साहित्यिक गम्भीर भाषा से अधिक स्थान दिया जाय। किन्तु यह सदैव ध्यान

में रखना चाहिए कि ठेठ देहाती बोली का उपयोग नाटक की गम्भीरता को नष्ट कर देगा। अतएव भले ही पात्र विशेष की चारित्रिक योजना इस प्रकार की भाषा के उपयोग की माँग करती हो, इसे कभी परिहार्य नहीं कहा जा सकता। एकांकी नाटक के संवाद को यथासम्भव सरल, प्रभावपूर्ण, स्पष्ट और सक्षिप्त होना चाहिए। एकांकी नाटक की सीमाएँ कभी भी दीर्घ व्याख्यानों को सहन नहीं कर सकती, यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

यह बात भी कभी नहीं भूली जा सकती कि एकांकी नाटक अपेक्षाकृत थोड़े-से जीवन-काल की घटनाओं का लेखा-जोखा है। इस कारण इसकी कुछ विशेषताएँ हैं। यदि बड़े नाटक को एक विस्तृत उद्यान कहा जाय तो एकांकी नाटक को एक गुलदस्ता कहा जायगा। यहाँ पात्र थोड़े-से समय के लिए आते हैं, क्षण-भर के लिए ठहरते हैं, और फिर विलीन हो जाते हैं। अतएव एकांकी नाटक में उनको अत्यन्त चमत्कारिक रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। उनके प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द को लिखने के पूर्व नाटककार को गम्भीर रूप से सोच लेना चाहिए। परन्तु फिर भी कला का प्रस्फुटन न होकर अस्फुट बना रहना ही भयस्कर है। अतएव प्रयत्न यही होना चाहिए कि यह प्रकट न हो कि प्रत्येक वाक्य को सोच-मोचकर लिखा गया है। (वे स्वाभाविक रूप में सामने आने चाहिए।) पात्रों के प्रत्येक अभिनय पर भी ध्यान देना चाहिए। यही बात कथानक और सगठन के विषय में भी कही जा सकती है। बहुत-कुछ वस्तु-निर्वाचन और उसके प्रतिपादन पर निर्भर है। अतएव यह स्पष्ट है कि एकांकी नाटक की प्रणयन-कला नाटककार से पूर्ण नाटक की तुलना में कहीं अधिक कला की माँग कर रही है।

नाटक-परिवार में एकांकी नाटक की यह कला निश्चय ही नवीनतम है। यह नवजात शिशु अत्यन्त थोड़े ही समय में अपने-आपको आकर्षक बना सकने में सफल हुआ है। एकांकी नाटकों की सफलता ने ही पश्चिमीय नाटक-साहित्य को अभूतपूर्व सम्मान दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत-साहित्य में भी अंक, भाण, व्यायोग आदि नाटक की शैलियाँ ऐसी हैं, जिनमें केवल एक ही अंक होता है, किन्तु हमारी यह निश्चित धारणा है कि अंग्रेजी के प्रभाव से ही हिन्दी में 'एकांकी' का प्रचलन हुआ।

हिन्दी में एकांकी—यद्यपि पहले हिन्दी का कोई अपना स्वतन्त्र रंगमंच

नहीं था, हमारे रंगमंच पर पहल पारसा-कम्पनियों का आधिकार था। 'भारतेन्दु' और 'व्याकुल' की नाटक-मण्डलियों ने हिन्दी-रंगमंच को प्रश्रय दिया। किन्तु इस प्रयत्न के बावजूद भी हिन्दी के नाटक दर्शन की वस्तु न रहकर केवल पाठ करने योग्य ही रहे। इसका प्रबल अपवाद श्री माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' है। यद्यपि हिन्दी के सबसे पहले नाटककार श्री भारतेन्दु ने कई नाटक लिखे हैं तथापि रंगमंच के उपयुक्त उनके कुछ ही नाटक रहे। उनके बाद श्री सुदर्शन तथा गोविन्दवल्लभ पन्त ने भी कुछ एकांकी लिखे, किन्तु प्रगति की दिशा में इनसे कुछ निर्देश नहीं मिला।

वास्तव में हिन्दी-एकांकी के इतिहास में 'प्रसाद' के 'एक घूंट' का वही स्थान है, जो आज कांग्रेस में 'गांधीवाद' का। 'एक घूंट' के बाद श्री रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' का उल्लेख किया जा सकता है। फिर तो सर्वश्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भुवनेश्वरप्रसाद, कमलाकान्त वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा गणेश प्रसाद द्विवेदी के एकांकी नाटक प्रकाशित हुए और धीरे-धीरे सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अशक', हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगदीशचन्द्र माथुर तथा विष्णु प्रभाकर आदि नाटककार भी इस क्षेत्र में आ गए। इन पिछले दस वर्षों में हिन्दी-एकांकी एक अच्छी-खासी मंजिल पार कर चुका है (उसके मूल में एक नवीन शैली का आकर्षण तो है ही, साथ ही मंच का आग्रह भी है। आज कॉलिज और क्लब के स्टेज पर उसकी माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है)। साधारणतः सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं से लगाव होने पर भी उसमें विचित्रता की कमी नहीं है। आज हिन्दी में समस्या-एकांकियों के अतिरिक्त रोमानी और ऐतिहासिक एकांकी, कवित्वमय भाव-नाट्य, मोनोड्रामा तथा प्रहसन आदि उसके अनेक रूप मिलते हैं। हमें विश्वास होता है कि हिन्दी-रंगमंच और एकांकी नाटक का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। उच्चकोटि के मौलिक नाटक और अनुवाद हमारे समक्ष हैं।

१६. ध्वनि-नाटक

ध्वनि-नाटक (रेडियो-नाटक) साहित्य की नवीनतम टेकनीक है। आधुनिक विज्ञान के फलस्वरूप मनोरंजन की अनेक विधाओं के साथ-साथ रेडियो का भी साहित्य, शिक्षा, संस्कृति और कला के प्रसार के साधन के रूप में आविष्कार हुआ। जिस प्रकार चित्रपट आधुनिक विज्ञानिक युग की देन है

उसी प्रकार ध्वनि-नाटक भी ।

परिभाषा—ध्वनि-नाटक का मुख्य आधार है ध्वनि । इसमें शब्दों—और केवल शब्दों द्वारा ही कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं । नाटक की आधारभूत सामग्री—रंगमंच, दृश्य-विधान और अभिनय इत्यादि का प्रत्यक्ष रूप से इसमें अभाव रहता है, केवल ध्वनि द्वारा ही उनको श्रोता के मानस-चक्षुओं के सम्मुख ला खड़ा किया जाता है । हम रेडियो से प्रसारित होते हुए ध्वनि-रूप शब्दों को श्रवण करके कल्पना की सहायता से मानसिक चित्रों का सृजन करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि-नाटक दृश्य की अपेक्षा श्रव्य-काव्य के अधिक निकट है । क्योंकि इसके लिए न तो किसी रंगमंच की आवश्यकता है, न यवनिका की, और न विशिष्ट वेश-भूषा अथवा प्रेक्षा-गृह की ही । आवश्यकता है केवल एक छोटे-से स्टुडियो और छोटे-से माइक की । फिर क्या है आप सैकड़ों मील बैठे श्रोताओं और दर्शकों के मानस-चक्षुओं तक ध्वनि का आश्रय ग्रहण करके विभिन्न प्रकार की भावाभिव्यक्ति की स्थितियों को प्रस्तुत कर सकते हैं । इस प्रकार केवल कानों के आश्रय से ही हम इसके साहित्यिक रूप का रसास्वादन करते हैं । और श्रव्य काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है । परन्तु ध्वनि-नाटक सर्वथा श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत ही नहीं आ सकता । क्योंकि इसकी टेकनीक दृश्य-काव्य की ही है । ध्वनि-रूप शब्दों पर आश्रित होने के कारण और टेकनीक में नाटक के आधार पर आधारित होने के फलस्वरूप इसे हम दृश्य और श्रव्य-काव्य के बीच की ही एक साहित्यिक विधा कहेंगे ।

कलागत भेद—ध्वनि-नाटक और नाटक में कुछ कलागत विभिन्नताएँ और भी हैं । ध्वनि-नाटक को एक विशिष्ट समय-सीमा में समाप्त होना होता है, जब कि दूसरे के लिए तीन-चार घण्टे का समय साधारण बात है । रेडियो-नाटकों में संकलन-त्रय (Three unities) की कोई विशेष आवश्यकता नहीं । इधर ऐसे अनेक सफल नाटक प्रसारित किये गए हैं, जिनमें न तो स्थल की एकता है, और न समय की । 'शान्ति का मोर्चा' नामक नाटक बुद्ध से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक के सम्पूर्ण शान्ति-प्रयत्नों को प्रदर्शित करता है । इसी प्रकार अनेक अन्य नाटकों में विभिन्न समयों और विभिन्न प्रदेशों के सांस्कृतिक और सामाजिक आदान-प्रदान का निरूपण एक ही समय में तथा एक ही साथ किया जाता है ।

नाटकों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है जब कि ध्वनि-नाटक को रेडियो-ध्वनि-प्रसारक-यंत्र पर। परिणामस्वरूप दोनों के आकार-प्रकार और पद्धति में पर्याप्त अन्तर उत्पन्न हो जाता है। नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत होने के लिए सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं और ध्वनि-नाटक को जो-कुछ भी करना होता है वह सब ध्वनि के द्वारा ही। नाटक में रंगमंच पर दृश्य-विधान की व्यवस्था रहती है, ध्वनि-नाटक में दृश्यों की अवतारणा कथोपकथन द्वारा या अन्य साधनों द्वारा की जाती है। उदाहरणार्थ यदि रात की धली-खिली चाँदनी का या प्रभात के मंगलमय सौन्दर्य का वर्णन करना है तो उसका विवरण नाटक के पात्रों द्वारा ही दिया जायगा, किन्तु वर्षा, तूफान, पर्वत के टूटने या ज्वालामुखी के फूटने अथवा सैनिकों के चलने या बम-विस्फोट इत्यादि की ध्वनि को रेकार्ड में भरकर सुनाया जाता है। इसे ध्वनि-ग्रन्थ कहा जाता है। पात्रों की भाव-भगिमा को बहुत-कुछ ध्वनि से या स्वर के उतार-चढ़ाव से अथवा पात्रों के कथनोपकथन से ही प्रस्तुत किया जाता है।

ध्वनि-नाटक में वस्तु तथा पात्रगत बहुत-सी सूचनाएँ देने के लिए तथा बहुत-से विवरण प्रस्तुत करने के लिए एक सूत्रधार (नैरेटर) की व्यवस्था रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि-नाटक और नाटक की रूप-रेखा तथा संविधान में पर्याप्त अन्तर है।

एक बात और, ध्वनि-नाटक और ध्वनि-रूपक में भी कुछ विभेद रहता है, यद्यपि रेडियो-कलाकार शायद इसे एक ही चीज समझते हैं। ध्वनि-रूपक वस्तुतः अंग्रेजी शब्द 'रेडियो फीचर' का पर्यायवाची है। ध्वनि-रूपक में संकलन-त्रयी की सर्वथा आवश्यकता नहीं पड़ती, और यदि कही पड़ भी जाय तो उसका निर्वाह सूत्रधार की व्यवस्था से कर लिया जाता है। वस्तुतः ध्वनि-रूपक में सूत्रधार (नैरेटर) की अपेक्षाकृत अधिक महत्ता है, इसमें तो एक प्रकार से सम्पूर्ण कथानक या विषय-वस्तु सूत्रधार द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। श्री उदयशंकर भट्ट के ध्वनि-रूपक 'कालिदास' में तत्कालीन समय और संस्कृति के किञ्चित् प्रदर्शन के अनन्तर उसका वर्णन सूत्रधार द्वारा ही कराया गया है।

ध्वनि-नाटक के तत्त्व—ध्वनि-नाटक के मुख्य तत्त्व चार हैं—(१) कथानक, (२) कथोपकथन, (३) पात्र एवं अभिनय, तथा (४) संगीत।

कथानक—ध्वनि-नाटक के कथानक सुसम्बन्धित, सरल और संक्षिप्त होने चाहिए। सक्षेप का अर्थ यह नहीं कि उसमें वेग ही न हो या उसे अप्रत्याशित रूप से शीघ्र समाप्त होने वाला होना चाहिए। ध्वनि-नाटककार को थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक एक घण्टे में वह सब-कुछ कहना होता है, जो कि एक नाटककार को तीन या चार घण्टे में। इसीलिए ध्वनि-नाटककार का कार्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। एक घण्टे में ही नाटक को प्रारम्भ, प्रसन्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम से युक्त होकर समाप्त हो जाना होता है। कथानक के उलभे हुए होने के धारण प्रभावोत्पादन की कमी और रसास्वादन का अभाव रहेगा।

कथोपकथन—कथोपकथन सजीव, पात्रानुकूल एवं सुष्ठु होने चाहिए। जिस प्रकार यदि नाटक में कथोपकथन लम्बे हो और पात्रानुकूल न हों तो रसास्वादन में बाधा पड़ती है, उसी प्रकार ध्वनि-नाटक में भी कथोपकथन सरल और संक्षिप्त होना आवश्यक है। ध्वनि-नाटक में तो इनकी स्वाभाविकता और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि ध्वनियों को यथासम्भव शीघ्र ही परिवर्तित होते रहना चाहिए।

पात्र तथा अभिनय—ध्वनि-नाटक में पात्रों की संख्या जितनी कम होगी, उतना ही वह अधिक रोचक और आकर्षक होगा। पात्रों की अधिकता से श्रोता को उनकी वैयक्तिक ध्वनियों को पहचानने में कठिनाता होगी। ध्वनि-भिन्नता ही इस प्रकार के नाटक में स्वाभाविकता उत्पन्न करती है और उसे प्रभावोत्पादक बना देती है। पात्रों के वैभिन्न्य से अवगत होने के लिए नामों की व्यवस्था भी की जा सकती है, किन्तु बार-बार नामों का उच्चारण केवल अनावश्यक ही नहीं, अपितु अस्वाभाविक और अशोभन भी है।

अभिनय के आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक भेदों में से ध्वनि-रूपक में केवल 'वाचिक' अभिनय ही रहता है। वैसे विभिन्न ध्वनियों के प्रयोग से पात्रों के अङ्ग-संचालन, उनके वस्त्रों की झटक, उनके वार्तालाप के उतार-चढ़ाव, उनके लहजे इत्यादि का प्रकटीकरण करने का प्रयत्न अवश्य किया जाता है, और यह भी सम्भव है कि पात्र माइक के सम्मुख वाचिक अभिनय करते हुए उसे अधिक वास्तविक बनाने के लिए आंगिक अभिनय ही करने लग जाय। परन्तु श्रोता के मन में वाचिक अभिनय से ही रसोत्पादन सम्भव है।

संगीत—ध्वनि-नाटक में पार्श्व-संगीत (Background Music) का भी प्रयोग होता है। दृश्यों के परिवर्तन इत्यादि की सूचना इस पार्श्व-संगीत द्वारा ही दी जाती है। वैसे कभी-कभी एक या दो छोटे-छोटे गीत भी कहीं-कहीं आ जाते हैं, परन्तु क्योंकि ध्वनि-नाटक को एक विशिष्ट समय में समाप्त होना होता है, अतः उन गीतों की व्यवस्था अधिक नहीं हो सकती। हाँ, संगीत-रूपक गीतमय हो सकते हैं।

ध्वनि-नाटक के प्रकार—मुख्य रूप से तो ध्वनि-नाटक के दो भेद ही हो सकते हैं—(१) एक तो ध्वनि-नाटक (Radio-Play) और (२) दूसरा रेडियो-रूपक (Radio-Feature)। रेडियो-रूपक अधिकांशतः परिचयात्मक और प्रचारात्मक होते हैं। इसमें विभिन्न संस्थाओं, समस्याओं, नीतियों या व्यक्तियों का प्रचारात्मक परिचय रहता है। साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं होता। भारत-सरकार की पंचवर्षीय योजना या सामूहिक योजना के विभिन्न रूप, अथवा किसी प्रादेशिक सरकार की ग्रामोद्धार-सम्बन्धी योजना इत्यादि का परिचय ही रेडियो-रूपक (Radio-Feature) द्वारा दिया जाता है।

ध्वनि-नाटक गीतात्मक या काव्यात्मक और सामाजिक हो सकते हैं। तुलसीदास, सूरदास या भारतेन्दु अथवा प्रसाद इत्यादि किसी प्राचीन या आधुनिक कवि की जयन्ती के उपलक्ष्य में गद्य और गीतों के मिश्रण से संगीत-रूपक की सर्जना हो सकती है। इसमें मुख्य रूप से कवि का ही परिचयात्मक चरित्र-चित्रण रहता है।

सामाजिक नाटक शुद्ध नाटकीयता के अन्तर्गत आते हैं। उनमें कथोपकथन, पात्र तथा दृश्य-विधान इत्यादि की पूर्ण व्यवस्था रहती है। ये नाटक एकांकी-नाटकों के अधिक निकट होते हैं। ऑल इण्डिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से इस प्रकार के अनेक ध्वनि-नाटकों को प्रसारित किया जा चुका है, जो जनता में पर्याप्त पसन्द किये गए हैं।

हिन्दी के प्रायः सभी ध्वनि-नाटककारों—सर्व श्री सुमित्रानन्दन पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा, अश्वक, भट्ट, अज्ञेय विष्णु प्रभाकर इत्यादि—के ध्वनि-नाटक विभिन्न रेडियो-स्टेशनों से प्रसारित हो चुके हैं। इधर ध्वनि-नाटकों के दो-एक संग्रह भी देखने को मिले हैं। भट्ट जी के 'एकला चलो रे' और 'कालिदास' तथा विश्वम्भर 'मानव'

के 'लहर और चट्टान' नामक रेडियो-नाटक-संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं ।

अब तक ध्वनि-नाटकों का अपेक्षित विकास नहीं हो सका । कला और सुसूचितपूर्ण नाटकों का अभाव है । प्रायः बहुत-से नाटक केवल रेडियो की माँग पूरी करने के लिए 'कट टू आर्डर' (Cut to order) लिखे जाते हैं, अतः उनमें यथार्थ जीवन का चित्रण नहीं रहता । कभी-कभी तो एकदम अविश्वसनीय और नीसरे दर्जे की घटिया प्रेम-कहानियाँ भी प्रसारित की जाती हैं, जिनमें संस्कृति और कला दोनों का ही गला घोंटा होता है । ऐसी सस्ती भावुकतापूर्ण और कलाहीन कृतियों का प्रसारण जनता के लिए चाहे सिनेमा-जगत्-जैसा चटपटापन प्रस्तुत कर सके, परन्तु वह उनकी रुचि का परिष्कार नहीं कर सकता । सरकारी नियन्त्रण के कारण काफी काँट-छाँट हो जाती है, और इस कारण समाज के सड़े-गले अंश का आलोचनात्मक दृष्टि से प्रदर्शन नहीं किया जा सकता । जन-जीवन के वास्तविक चित्रण से पूर्ण तथा स्वस्थ आदर्श और मानवीय मूल्यों की स्थापना के हेतु कलात्मक ध्वनि-नाटकों का प्रसार ही साहित्य और जनता के लिए श्रेयस्कर होगा ।

सात : निबन्ध

१. निबन्ध: गद्य-साहित्य की कसौटी

यदि हम कहे कि गद्य-काव्य का पूर्ण और वास्तविक रूप निबन्ध में ही प्राप्त होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि गद्य-काव्य के अन्य विभिन्न रूप वंयक्तिक शैली के प्रयोगों के इतने अधिक निकट नहीं जितना कि निबन्ध; और न ही वे शुद्ध गद्य के रूप को प्रकट कर सकते हैं। उपन्यास, कथा तथा जीवनी इत्यादि में गद्य की भाषा माध्यम के रूप में ही प्रयुक्त की जाती है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।

हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही बौद्धिक और तार्किक विषयों की विवेचना के लिए निबन्ध का ही आश्रय ग्रहण किया जाता रहा है। निबन्ध का व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप वर्तमान युग की देन है। प्राचीन युग में गद्य के क्षेत्र में विज्ञानिक विश्लेषण और दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता रही है। उनमें रसात्मकता नहीं, और न ही उनमें लेखक का व्यक्तित्व प्रतिफलित हुआ है। इसी कारण उन्हें साहित्य में स्थान नहीं दिया जाता।

२. निबन्ध शब्द का अर्थ और परिभाषा

इन विज्ञानिक चिन्तन और विश्लेषण-प्रधान लेखों के लिए ही साहित्य के क्षेत्र में निबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। निबन्ध का शाब्दिक अर्थ है बाँधना। प्राचीन समय में, जब कि आजकल के-से साधन-सम्पन्न मुद्रण-यंत्रों का अभाव था, और कागज आदि की सुविधा प्राप्त न थी, लोग अपने विचारों को भोज-पत्रों पर लिखकर उन्हें पुस्तक के रूप में बाँध देते थे। इस बाँधने की क्रिया को ही निबन्ध या प्रबन्ध कहा जाता था, शनैः-शनैः यह शब्द अपना अर्थ परिवर्तित करता गया और उसका अर्थ एक ऐसा लेख बन गया, जिसमें कि अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का समिश्रण या ग्रन्थन हो। जैसा कि नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में इस शब्द का अर्थ लिखा है : 'बन्धन वह व्याख्या है, जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो।'

३. निबन्ध : एक वैयक्तिक कला

आज हिन्दी में निबन्ध शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस अर्थ में 'एसे' (Essay) शब्द का अंग्रेजी में। 'एसे' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ प्रयास या प्रयत्न है। सुप्रसिद्ध फ्रेच-लेखक मोंटेन (Montaigne) ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया। उसके अनुसार 'एसे' वैयक्तिक विचार या अनुभूति को एक कलात्मक सूत्र में पिरो देने का ही प्रयत्न मात्र है। परन्तु मोंटेन की रचनाओं में विशृंखलता है, उनमें अभिव्यक्त विभिन्न विचारों में सम्बद्धता नहीं। उनमें वैयक्तिक रुचि, भाव और अनुभूति की प्रधानता होती है। वस्तुतः आज के निबन्ध-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यक्तित्व-प्रधानता ही है।

४. अभिव्यक्ति का एक प्रकार

मोंटेन के आदर्शों के अनुसरण पर ही पश्चिम के निबन्धकारों ने निबन्ध रचना की है, और मोंटेन के निबन्धों को ही आदर्श मानकर निबन्ध की परिभाषा की गई है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ॰ जानसन (Johnson) का कथन है कि निबन्ध (Essay) मन की ऐसी विशृङ्खल विचार-तरंग है, जो अनियमित और अप्रच है।^१ जे० वी० प्रीस्टले का कथन है कि निबन्ध वह साहित्यिक रचना है, जिसे एक निबन्धकार ने रचा हो। उपर्युक्त विवेचन और परिभाषाओं से निबन्ध के विषय में हम निम्न लिखित निर्णयों पर पहुँच सकते हैं—

१. निबन्ध गद्य में अभिव्यक्त एक प्रकार का स्वगत-भाषण है, जिसका मुख्य उद्देश्य अपने व्यक्तित्व को अथवा किसी विषय पर अपनी वैयक्तिक अनुभूति, भावना या आदर्श को प्रकट करना है। गद्य-काव्य के अन्य रूपों की अपेक्षा निबन्ध में साहित्यिक का निजी रूप अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट रहता है। इसी कारण ऐसे दार्शनिक वाद-विवाद या वैधानिक अथवा राजनीतिक लेख, जिनमें कि रचयिता का व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं होता, निबन्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत ग्राहीत नहीं किये जायेंगे।

२. निबन्ध का आकार छोटा होता है, उसमें लेखक जीवन या समाज के प्रति अपनी भावनात्मक या विचारात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है।

३. इस प्रकार आत्म-निवेदन अथवा अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में है।

१. A loss sally of mind, an irregular, indigested piece not a regular and orderly performance.

निबन्ध-कला की इतिकर्तव्यता है। वैयक्तिक प्रतिभा के प्रकाशन का निबन्धकार को विशेष अवसर प्राप्त होता है। वह अपनी वैयक्तिक प्रतिभा के बल पर ही साहित्य की इस विधा को इतना चमत्कारपूर्ण और उत्कृष्ट बना देता है।

५. निबन्ध, आख्यायिका और प्रगीत-काव्य की तुलना

निबन्ध, आख्यायिका और प्रगीत-काव्य तीनों में पर्याप्त साम्य है, क्योंकि जिस प्रकार आख्यायिका का सृजन एक विशिष्ट उद्देश्य के प्रतिपादन के लिए होता है, और उसके प्रतिपादन के अनन्तर वह समाप्त हो जाती है, वैसे ही निबन्ध भी एक विशिष्ट उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए लिखा जाता है और उसके पूर्ण होने पर वह समाप्त हो जाता है। दोनों के आकार-प्रकार, रूप-रेखा और उद्देश्य में साम्य है। जिस प्रकार उपन्यास के किसी एक अग्र्यास को हम आख्यायिका नहीं कह सकते; उसी प्रकार दार्शनिक या साहित्यिक ग्रन्थ के किसी एक विशिष्ट अध्याय को निबन्ध नहीं कहा जा सकता। आख्यायिका और निबन्ध दोनों का ही स्वतन्त्र अस्तित्व है। आख्यायिका में जब तक आख्यायिका-शैली की सम्पूर्ण विशेषताएँ उपलब्ध न हों वे आख्यायिका नहीं कहला सकती, इसी प्रकार निबन्ध कहलाने के लिए भी निबन्धों को वैयक्तिक विशेषताओं की उपस्थिति आवश्यक है।

निबन्ध एक ओर यदि आख्यायिका से समता रखता है तो दूसरी ओर उसमें प्रगीत-काव्य की बहुत-सी विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। गीति-काव्य के समान ही निबन्ध में लेखक का स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है, जिस प्रकार गीति-काव्य में कवि अपनी आन्तरिक अनुभूति को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार निबन्ध में भी निबन्धकार इस विविध रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक या विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को अपने दृष्टिकोण के अनुरूप प्रकट करता है। गीति-काव्य में आत्मीयता, भावमयता और व्यापक सहानुभूति विद्यमान रहती है, निबन्ध में भी इन्हीं विशेषताओं को प्राप्त किया जा सकता है।

इन समताओं के होते हुए भी इनमें कुछ अन्तर है। आख्यायिका की गति तीव्र होती है, उसमें केवल एक विशिष्ट केन्द्र-विन्दु पर ही प्रकाश डाला जाता है। उसकी शक्ति केन्द्रीभूत अधिक होती है। किन्तु निबन्ध में तीव्रता नहीं होती उसमें एक प्रकार का शैथिल्य रहता है। किन्तु यहाँ शैथिल्य से मवलब

शैली की अपरिपक्वता से नहीं। शैथिल्य से यहाँ मतलब यही है कि जैसा कहानी का वातावरण अत्यन्त खिचावपूर्ण रहता है, वैसा निबन्ध में नहीं होता। कहानीकार अपने आदर्श की अभिव्यक्ति एक विशिष्ट कथानक के सृजन द्वारा करता है। गीति-काव्य गेय होने के कारण रसमय होता है, और वह मानव-हृदय के अधिक निकट रहता है। किन्तु निबन्धकार न तो कथानक का ही आश्रय ग्रहण कर सकता है, और न ही वह गीति-काव्य का रसमय वातावरण उत्पन्न कर सकता है। वह इसे दोनों सुविधाओं से वंचित रखता है। निबन्धकार गीति-काव्य और कहानी दोनों के ही उपकरणों का उपयोग करता है। इस प्रकार निबन्ध का स्थान कथा और गीति-काव्य दोनों के मध्य का है। किन्तु फिर भी वह दोनों से स्वतन्त्र है।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर अब हम यहाँ निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार बना सकते हैं कि निबन्ध गद्य-काव्य की वह विधा है जिसमें कि लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।

६. निबन्धों के प्रकार

विषय की दृष्टि से निबन्ध का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, उसमें विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वों, भावनाओं, वस्तुओं और क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विवेचन हो सकता है। विषय के इस वैभिन्न्य को दृष्टि में रखते हुए निबन्धों के चार प्रकार बताये जाते हैं—(१) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive essays), (२) विवरणात्मक निबन्ध (Narrative essays), (३) विचारात्मक निबन्ध या विवेचनात्मक निबन्ध (Reflective essays) तथा (४) भावात्मक निबन्ध (Emotional essays)।

निबन्धों के ये प्रकार सर्वसम्मत तो नहीं हो सकते, क्योंकि निबन्धों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसी कारण इनके और भी बहुत-से भेद किये जाते हैं, जैसे—विश्लेषणात्मक निबन्ध (Expository essays) या विवादात्मक निबन्ध (Argumentative essays); किन्तु इन भेदों को हम बड़ी सुविधा से निबन्ध के उपर्युक्त चारों प्रकारों में सम्मिलित कर सकते हैं।

वर्णनात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में प्राकृतिक उपकरणों तथा भौतिक पदार्थों का वर्णन रहता है। ये पदार्थ प्रायः स्थिर होते हैं और इन निबन्धों का सम्बन्ध प्रायः देश से होता है। वर्णनात्मक निबन्धों की वर्णन-शैली को व्यास-शैली कहा जाता है। व्यास-शैली में वर्ण्य पदार्थ की बहुत विस्तृत विवेचना की जाती है। ठा० जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न', कृष्णबलदेव वर्मा का 'बुन्देलखण्ड का पर्यटन', मिश्रबन्धुओं का 'रूस-जापानी युद्ध' वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

विवरणात्मक निबन्ध—गतिशील वस्तुओं का तथा काल और परिस्थितियों का जिनमें वर्णन रहे, वे निबन्ध विवरणात्मक कहलायेंगे। इनमें भी अधिकतर व्यास-शैली ही प्रयुक्त की जाती है। इतिहासिक घटनाओं, महापुरुषों की संक्षिप्त विवरणात्मक जीवनियों तथा यात्राओं का वर्णन ऐसे ही निबन्धों में रहता है।

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध—इसमें बौद्धिक विवेचन की प्रधानता रहती है। दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा मनोविज्ञानिक आदि विषयों की विवेचना ऐसे ही निबन्धों में रहती है। तर्क के साथ-साथ इनमें भावना का भी कभी-कभी मिश्रण रहता है। इमर्सन तथा कार्लाइल इत्यादि विश्व-विख्यात निबन्ध-लेखकों के निबन्धों में इसी प्रकार का बौद्धिक आध्यात्मिक विवेचन रहता है। हमारे यहाँ सर्वश्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, जैनेन्द्रकुमार तथा नलिनीमोहन सान्याल इत्यादि ने बहुत ऊँचे विचारात्मक निबन्ध लिखे हैं।

विचारात्मक निबन्ध व्यास-शैली के अतिरिक्त समास-शैली में भी लिखे जाते हैं। समास-शैली में संक्षिप्तता को अधिक महत्त्व दिया जाता है अर्थात् थोड़े-से-थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक विचार व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। द्विवेदी जी के निबन्ध अधिकतर व्यास-शैली में लिखे गए हैं। आचार्य शुक्ल के निबन्धों में समास-शैली का आधिक्य होता है।

भावात्मक निबन्ध—भावात्मक निबन्धों का सम्बन्ध हृदय से है। इनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा भाव-तत्त्व की प्रधानता होती है, इसी कारण इनमें रागात्मकता भी अधिक रहती है। इन्हें कवित्वपूर्ण निबन्ध भी कहा जा सकता है। भावात्मक निबन्धों में एक विशेष सजीवता, तड़प, और हार्दिक सौन्दर्य विद्यमान

रहता है ।

भावात्मक निबन्धों में दो प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त की जाती हैं—एक तो विक्षेप शैली और दूसरी धारा शैली । विक्षेप शैली में कही-कही कुछ दूर तक सम्बद्ध, बीच-बीच में उखड़े-उखड़े वाक्य, कही वाक्यों के किसी मर्मस्पर्शी अंश की आवृत्ति, तो कहीं अधूरे छूटे हुए प्रसंग रहते हैं । विक्षेप शैली के विपरीत धारा शैली में भावों का प्रकटीकरण प्रवाहमय होता है । उसकी गति में एक विशिष्ट तारतम्य रहता है, जो सम्पूर्ण वाक्यों को एक सूत्र में पिरोए रखता है ।

महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह के भावात्मक निबन्ध अधिकांशतः विक्षेप शैली में ही लिखे गए हैं । पद्मसिंह शर्मा तथा अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में धारा शैली के दर्शन होते हैं । अनेक नाटकों के भावात्मक निबन्धों में इन दोनों शैलियों का मिश्रण भी विद्यमान रहता है ।

७. पाश्चात्य निबन्ध-साहित्य : सिंहावलोकन

हिन्दी में निबन्धों का प्रचलन आधुनिक यग में अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हुआ है, अतः हिन्दी के निबन्धों की विविध शैलियों तथा शैली-निर्माताओं का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व हमारे लिए यह उचित होगा कि हम पाश्चात्य-साहित्य के निबन्ध-लेखकों का कुछ परिचय प्राप्त कर ले ।

जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं कि आधुनिक साहित्यिक निबन्धों का प्रचलन फ्रेंच लेखक मौनटेन से हुआ है । निबन्ध-लेखक की दृष्टि से मौनटेन एक आदर्श व्यक्ति था । वह हास्यप्रिय, सत्यान्वेषी, सहृदय, प्रेमास्पद और मनो-विज्ञानिक सत्यों के अन्वेषण में उन्मुख था । इसी कारण मौनटेन के निबन्धों में सरलता, आत्मीयता और सहानुभूति कूट-कूटकर भरी हुई है । यद्यपि उनमें अभिव्यक्ति और विचार सुसम्बद्ध और शृङ्खलायुक्त नहीं ।

उनमें एक ही साथ अनेक विषयों की विवेचना रहती थी । वस्तुतः उसके निबन्धों का वातावरण ठीक वैसा ही होता था जैसा कि मित्रों के पारस्परिक वार्तालाप के समय होता है । जिस प्रकार पारस्परिक वार्तालाप के समय विषय में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार उसके निबन्धों में भी विषय परिवर्तित होता रहता था । इतना होते हुए भी उसमें पर्याप्त सरसता, भावमयता तथा अनुपम आकर्षण विद्यमान रहता था ।

मौनटेन के आदर्शों का अनुसरण विविध देशों में हुआ । इंग्लैंड में सन्

१६०० के लगभग बेकन ने निबन्ध लिखने प्रारम्भ किये । बेकन और मौनटेन के व्यक्तित्व तथा आदर्शों में पर्याप्त अन्तर था, इसी कारण दोनों की निबन्ध-लेखन-शैली में बहुत अन्तर है । मौनटेन के विपरीत बेकन के निबन्धों में ताकिक विवेचन, विज्ञानिक विश्लेषण तथा बौद्धिकता की प्रधानता है । वस्तुतः बेकन एक साहित्यिक की अपेक्षा दार्शनिक और विचारक अधिक था । इसी कारण उसके निबन्धों में मौनटेन की-सी आत्मीयता, स्वच्छन्दता और सरसता नहीं आ पाई । इसी कारण बेकन की अपेक्षा मौनटेन की निबन्ध-लेखन-शैली को ही अधिक साहित्यिक और अनुकरण करने योग्य समझा जाता है । बेकन के निबन्धों का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि उसके पश्चात् निबन्धों में धीरे-धीरे विचारों की विशृङ्खलता मिटने लगी और उनमें क्रमबद्धता आने लगी ।

कौडले की निबन्ध-शैली मौनटेन के आदर्शों की ही अनुगामीनी है । उसके निबन्ध उसके अपने व्यक्तित्व से पूर्ण हैं, उनमें उसकी आत्मा की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है । इसी कारण उनमें सजीवता भी अधिक है । विलियम टेम्पल, स्टील, एडिसन तथा डॉ० जानसन के प्रादुर्भाव के साथ ही अंग्रेजी निबन्धों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ । विलियम टेम्पल भी मौनटेन के आदर्शों का ही अनुगामी था । उसके निबन्धों की शैली अपेक्षाकृत विवेचनात्मक अधिक थी । इसी समय 'स्पैक्टेटर' तथा 'टैटलर' आदि मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों में निबन्धों का प्रचलन हुआ । अतः एक बड़ी संख्या में निबन्धों की रचना प्रारम्भ हुई, जिनमें सामाजिक रूढ़ियों, जड़ताओं और कुरीतियों का तीव्र विरोध किया जाता था । स्टील तथा एडिसन का सम्बन्ध 'स्पैक्टेटर' से था । इनकी शैली में पर्याप्त साम्य था । इनकी शैली बहुत सजीव और सरस थी, उसमें वार्तालाप की-सी स्वाभाविकता रहती थी । डॉ० जानसन एक विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे । उनके निबन्ध भी उनके व्यक्तित्व के अनुरूप हैं । उनकी निबन्ध-शैली पर्याप्त गम्भीर है, स्टील तथा एडिसन का-सा हास्य-विनोद उनमें नहीं ।

राबर्ट लुई स्टीवन्सन भी प्रथम श्रेणी का निबन्धकार था, उसके निबन्धों में उसका व्यक्तित्व बहुत मनोहर तथा भव्य रूप में अभिव्यक्त हुआ है । १९वीं शताब्दी के अन्य प्रसिद्ध निबन्ध-लेखकों में गोल्डस्मिथ, हैजलिट, रस्किन, इमर्सन, मैकाले, ले हण्ट, मैथ्यू आर्नल्ड तथा चार्ल्स लेम्ब इत्यादि प्रमुख हैं ।

गोल्डस्मिथ के निबन्धों में उसकी वैयक्तिक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं।

उसकी शैली का विकसित रूप हम चार्ल्स लेम्ब में प्राप्त करते हैं। चार्ल्स लेम्ब सर्वोत्कृष्ट निबन्ध-लेखक माना जाता है। उसकी उत्कृष्टता का एक बहुत बड़ा कारण उसकी निश्छलता है। वे अपने निबन्धों में अपने स्वप्नों, कल्पनाओं तथा आदर्शों को उसी रूप में अभिव्यक्त करता है जैसा कि वह उन्हें अनुभव करता है। उसका सम्पूर्ण जीवन उसमें सजीव हो उठा है। उसके निबन्धों में इतनी आत्मीयता है कि हम केवल उसीके बल पर उसकी उत्कृष्टता को स्वीकार कर सकते हैं। हैजलिट के निबन्ध भी बहुत सजीव हैं। उनमें वर्णन की प्रधानता होती है। किन्तु उसकी वर्णन-शैली बहुत मधुर और प्रभावोत्पादक है। रस्किन, इमर्सन तथा मैकाले इत्यादि लेखकों ने यद्यपि निबन्ध-लेखन-विषयक प्राचीन आदर्शों को स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु उन्होंने अपनी वैयक्तिक शैलियों का स्वतन्त्र विकास भी किया है। इमर्सन के निबन्धों में आदर्शवादी अर्ध्यात्म की प्रधानता है। वस्तुतः इमर्सन, रस्किन और मैथ्यू आर्नल्ड इत्यादि के निबन्ध अंग्रेजी-साहित्य में विशेष महत्त्व रखते हैं।

मैकाले ने बृहदाकार निबन्धों की रचना की है। उसकी शैली में एक विशेष चमत्कार और प्रवाह है, किन्तु उसने कल्पना का अधिक आश्रय लेकर अनेक परिस्थितियों तथा तथ्यों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। कार्लाइल के निबन्ध साहित्यिक आलोचना से सम्बन्धित हैं। उसके निबन्धों में उसकी भावुकता विशेष रूप से चमत्कृत हुई है। कार्लाइल के निबन्धों में कहीं-कहीं उसका आलोचक तथा उपदेशक का रूप अधिक प्रखर हो गया है।

अत्याधुनिक निबन्धकारों में प्रो० हैराल्ड लास्की, एच० जी० वेल्स, तथा जी० के० चैस्टरटन विशेष प्रसिद्ध हैं। इन लेखकों के निबन्धों में उपदेशात्मकता कम और जीवन की गम्भीर आलोचना अधिक होती है।

८. हिन्दी-साहित्य में निबन्धों का विकास

हिन्दी-गद्य का विकास भारतेन्दु-युग में ही हुआ, और उसके साथ ही निबन्ध-लेखन की परम्परा का विकास भी प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक निबन्ध अधिकांश में मासिक या साप्ताहिक पत्रों के लिए ही लिखे गए थे, अतः वे आवश्यक रूप से ही संक्षिप्त थे। उस समय की सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ ही प्रायः इन निबन्धों के विषय हैं। परन्तु ये लेखक प्रायः जिन्दादिल, सजीव और कल्पनाशील हैं। इसी कारण इनके निबन्धों में वैयक्तिक विशेषताओं,

हास्य-विनोद तथा व्यंग्य इत्यादि का समावेश हो गया है। वे लोग प्रायः निबन्ध-लेखन की शैली से अपरिचित थे, अतः वे लम्बी-लम्बी भूमिकाओं से अपने निबन्धों का प्रारम्भ करते थे जिनका कि निबन्ध के विषय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता था। भाषा भी अपरिपक्व और असंस्कृत थी। स्वभावतः उनकी लेखन-शैली में निबन्ध-कला की बहुत-सी विशेषताएँ सम्मिलित हो गई हैं; जिनमें आत्मीयता, निश्छलता तथा विनोद और हास्य-व्यंग्य की भावनाएँ मुख्य हैं।

इस काल के निबन्ध-लेखकों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बा० बालमुकुन्द गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी इत्यादि प्रमुख थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रादुर्भाव के साथ ही हिन्दी-गद्य का परिमार्जन प्रारम्भ हुआ, और गद्य के विविध अंगों की समृद्धि के अनेक प्रयत्न किये जाने लगे। द्विवेदी युग के निबन्धों का विषय की दृष्टि से पर्याप्त विस्तार हुआ। विचारात्मक, भावात्मक तथा वर्णनात्मक सभी प्रकार के निबन्धों का प्रचलन हुआ। व्यंग्य-विनोद और चटपटेपन का स्थान गाम्भीर्य और विशद विवेचन ने लिया। साहित्य और दर्शन की गम्भीर समस्याओं पर लिखने के सफल प्रयत्न किये गए। निबन्ध की नवीन शैली का इस युग में पर्याप्त विकास हुआ।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस काल के लेखकों में पं० पद्मसिंह शर्मा, माधव-प्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बा० गोपालराम गहमरी तथा ब्रजनन्दन सहाय आदि प्रमुख हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में भावुकता की प्रधानता होती थी। उन्होंने बड़ी ही मार्मिक और कभी-कभी चटपटी भाषा में अपने भावों को अभिव्यक्त किया है। मिश्र जी जोशीले लेखक थे। उन्होंने अधिकतर-पर्वों तथा हिन्दू-त्योहारों पर ही लिखा है। गुलेरी जी के निबन्ध भावात्मक ही कहे जायेंगे। उनमें भाषा का चमत्कार विशेष दृष्टिगोचर होता है। बा० ब्रजनन्दन-सहाय ने अनुभूति-प्रधान निबन्ध लिखे हैं, परन्तु वे भावात्मक श्रेणी के अन्तर्गत ही ग्रहीत किये जाते हैं। सजीवता और स्वाभाविकता आपके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। भाषा भी आपकी बहुत मनोहारी है।

इन लेखकों के अतिरिक्त पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा मिश्रबन्धुओं ने भी बहुत अच्छे निबन्ध लिखे हैं।

डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यद्यपि द्विवेदी-युग में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वास्तव में वे द्विवेदी-युग और आधुनिक युग के बीच एक कड़ी का कार्य करते हैं। आप दोनों के निबन्ध अधिकांशतः विचारात्मक हैं। द्विवेदी-युग और आधुनिक युग के निबन्धों की शैली में पर्याप्त अन्तर है। विवेचित विषय भी अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर हैं। निबन्ध-कला की दृष्टि से भी आधुनिक युग के निबन्धकारों के निबन्ध पर्याप्त उत्कृष्ट हैं। अध्यापक पूर्णसिंह, गुलाबराय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बरूशी, सियारामशरण गुप्त, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नलिनीमोहन सान्याल, जयशंकरप्रसाद, शान्तिप्रिय द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, सद्गुरुशरण अवस्थी, जैनेन्द्रकुमार, डॉ० नगेन्द्र, महादेवी वर्मा, विनयमोहन शर्मा, डॉ० सत्येन्द्र, तथा कन्हैयालाल सहल इत्यादि आज के उत्कृष्ट निबन्धकार हैं।

उनमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है। अध्ययन और विषय-विवेचन की गम्भीरता उनसे स्पष्ट प्रकट हो जाती है। महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह के निबन्धों में भावुकता की प्रधानता होती है, उनकी वर्णन-शैली बहुत चित्ताकर्षक होती है। सुश्री महादेवी वर्मा के निबन्ध उनकी वैयक्तिक विशेषताओं को प्रकट करते हैं। इसी प्रकार श्री सियारामशरण गुप्त के निबन्धों में भी व्यक्तित्व और आत्मीयता की प्रधानता रहती है।

आधुनिक युग में लेखकों की दृष्टि हमारी सामाजिक, बौद्धिक और मनो-विज्ञानिक समस्याओं की ओर भी जा रही है। कुछ लेखकों ने इन विषयों की गम्भीर विवेचना भी की है। व्यंग्य और विनोद-प्रधान शैली को लेकर भी कुछ लेखक इस क्षेत्र में बढ़ रहे हैं। किन्तु अभी तक भिन्न-भिन्न आकर्षक वैयक्तिक शैलियों का पूर्ण विकास नहीं हो सका।

६. हिन्दी के कुछ प्रमुख निबन्धकार : एक समीक्षा

पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा निबन्धों का श्रीगणेश किया। भट्ट जी के निबन्ध सामाजिक, साहित्यिक और नैतिक इत्यादि अनेक प्रकार के विषयों से सम्बन्धित हैं। आकार में वे बहुत बड़े नहीं। भट्ट जी बेकन से प्रभावित थे। इसी कारण वे विषय की विवेचना करते हुए पर्याप्त गम्भीर होते थे। उनका प्रेरणा-स्रोत सदा भारतीय साहित्य और दर्शन रहा। भट्ट जी ने

निबन्धों में उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है । उसमें मनोरंजकता पर्याप्त है । भाषा आपकी संस्कृत-गर्भित है, किन्तु यत्र-तत्र उर्दू, अंग्रेजी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसी कारण वह पूर्ण परिष्कृत नहीं, वाक्य भी असंगठित हैं । हिन्दी के निबन्ध-लेखकों में आपका विशेष स्थान है ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र एक विनोदशील प्रकृति के व्यक्ति थे । यह प्रकृति उनके सम्पूर्ण निबन्धों में परिलक्षित की जा सकती है । उन्होंने साधारण-से-साधारण विषयों को लेकर बहुत सुन्दर, सफल और महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं । उनमें गम्भीरता भी है, किन्तु हास्य, व्यंग्य, विनोद आदि का बड़ी कुशलता से समावेश किया गया है । मिश्र जी के निबन्धों में बहुत स्वाभाविकता है । उनका वातावरण ऐसा ही होता है जैसा कि एक मित्र-मण्डली की बातचीत का । मिश्र जी की भाषा में आलंकारिता का आधिक्य है, लोकोक्तियों तथा मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया गया है । अवधी इत्यादि के शब्दों के प्रयोगों के फलस्वरूप उनकी भाषा में परिष्कार नहीं आ सका । मिश्र जी के निबन्ध बहुत रोचक और सरस हैं ।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-गद्य के निर्माता हैं । हिन्दी-साहित्य में उनका महत्त्व भी इसी दृष्टि से है । निबन्ध-लेखन की दृष्टि से उनमें मौलिकता का अभाव है, किन्तु उन्होंने भाषा-शैलियों का सृजन किया है । निबन्ध-लेखन में भी उन्होंने तीन प्रकार की विभिन्न शैलियों का आश्रय ग्रहण किया है । वर्णनात्मक निबन्धों के लिखने में अपनाई गई उनकी शैली बहुत सरल है, उसे वस्तुतः कहानी कहने की शैली कहा जा सकता है । इसमें हास्य और व्यंग्य का हल्का पुट है । यह प्रयत्न किया गया है कि कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल-से-सरल ढंग से कहा जाय ।

विचारात्मक तथा अलोचनात्मक निबन्धों में गाम्भीर्य है, विनोद का अभाव है । भाषा भी व्यवस्थित है और उसका भुकाव तत्समता की ओर है । वाक्य छोटे और गठे हुए हैं । तीसरी प्रकार की शैली संस्कृत-गर्भित तथा अलंकृत है । उसमें कुछ दुरूहता भी है । जहाँ कहीं व्यंग्य और विनोद का समावेश हुआ है वहाँ भाषा भी व्यावहारिक हो गई है ।

द्विवेदी जी के निबन्ध विविध विषयों पर लिखे गए हैं । उनमें इतिवृत्ता-

त्मकता के सर्वत्र दर्शन हो जाते हैं ।

डॉ० श्यामसुन्दरदास हिन्दी के उत्कृष्ट निबन्ध-लेखकों में से थे । आपके निबन्ध विचारात्मक हैं, उनमें साहित्य, कला और मानव-जीवन के विविध अंगों की बहुत मार्मिक विवेचना की गई है । उनकी शैली अपनी अवश्य है, किन्तु उनका व्यक्तित्व उनके निबन्धों में प्रतिबिम्बित नहीं हुआ । आपके निबन्धों के विषय पर्याप्त गम्भीर हैं, उनकी विवेचना में पुनरावृत्ति का दोष है । इसका कारण शायद उनका उद्देश्य पाठकों के लिए इन गम्भीर विषयों को सरल बनाना ही हो । किन्तु उनके निबन्ध आचार्य शुक्ल की भाँति गम्भीर मनन से युक्त नहीं । उनकी गहराई कम है ।

आपकी भाषा परिमार्जित है। उसमें संस्कृत शब्दों तथा पदावली का उदारता-पूर्वक प्रयोग किया गया है । विदेशी शब्द नहीं अपनाए गए । फिर भी बाबू जी की भाषा में क्लिष्टता नहीं आ पाई, क्योंकि वाक्य छोटे-छोटे हैं, और तत्सम शब्दों को भी उन्होंने तद्भव रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है । इस कारण विषय भी स्पष्ट और बोधगम्य है । जहाँ विषय की सरलता है, वहाँ भाषा की क्लिष्टता भी दृष्टिगोचर नहीं होती ।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने दो प्रकार के निबन्ध लिखे हैं—विचारात्मक और साहित्यिक । शुक्ल जी की शैली गम्भीर है । उनके निबन्ध सर्वथा मौलिक हैं । शुक्ल जी वस्तुतः एक स्वतंत्र चिन्तक, मौलिक एवं गम्भीर विचारक तथा मनस्वी पण्डित थे । यही कारण है कि उनके निबन्ध हिन्दी-साहित्य में विशेष महत्त्व के उपयुक्त समझे जाते हैं । शुक्ल जी के निबन्धों का संग्रह 'चिन्तामणि' नाम से प्रकाशित हो चुका है । इसमें अधिकांश निबन्ध मनोविज्ञानिक हैं, जिनका साहित्यिक मूल्य अवश्य है । शेष साहित्यिक निबन्ध हैं, जिनमें सैद्धान्तिक अलोचना से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है ।

शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि और हृदय का जैसा सामंजस्य है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । उनकी निबन्ध-लेखन-शैली वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त है । डॉ० श्यामसुन्दरदास की शैली की भाँति निर्वैयक्तिक नहीं । हास्य, व्यंग्य और विनोद का उसमें बहुत शिष्टता से समावेश किया गया है । भाषा अत्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ है । शब्दों का चुनाव आवश्यकतानुसार उर्दू और अंग्रेजी में भी किया गया है । कहीं-कहीं तार्किकता अधिक है और रमणीयता कम । पर हास्य और

व्यंग के कारण सरसता का अभाव कहीं नहीं । संस्कृत-पदावली से युक्त वाक्य तो गद्य-गीत की रमणीय पंक्तियों के सदृश हैं । विचारात्मक निबन्धों की भाषा में तद्भव शब्द अधिक प्रयुक्त किये गए हैं, साहित्यिक निबन्धों की भाषा क्लिष्ट किन्तु प्रभावोत्पादक है । बहुत-से वाक्य तो सूक्तियों के सदृश अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी रखते हैं ।

अध्यापक पूर्णासिंह के निबन्ध अधिकांश में भावात्मक हैं । यह भावुकता अध्यात्मिकता और धार्मिकता से सम्बन्धित है । आपने विभिन्न धर्मों का बहुत विस्तृत अध्ययन किया है, अतः आपकी आध्यात्मिक भावनाएँ बहुत उदार हैं । आपने यद्यपि बहुत थोड़े निबन्ध लिखे हैं, किन्तु जितने भी लिखे हैं वे सब शैली, भावाभिव्यक्ति की शक्तिमत्ता और प्रभावोत्पादकता के कारण बहुत प्रसिद्धि और प्रशंसा प्राप्त कर चुके हैं । आपके अधिकांश निबन्धों की भाषा काव्यमय है, उसमें क्लिष्टता नहीं । वे अलंकृत हैं, किन्तु अस्वाभाविक नहीं । विषय को भूतिमान बनाने की आपमें अद्भुत क्षमता है । आपके भावों में वेगवान प्रवाह है, आपका व्यक्तित्व अत्यन्त मधुर है, और यह व्यक्तित्व की मधुरिमा ही उनके सब निबन्धों में व्यक्त हुई है ।

बाबू गुलाबराय भी हिन्दी-साहित्य के प्रमुख निबन्धकार हैं । आपकी शैली डॉ० ह्यामसुन्दरदास और आचार्य शुक्ल की शैली के मिश्रण से बनी है । आपने जीवन, समाज और साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है, अतः आपके निबन्धों के विषय भी इन्हीं क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं । आपकी विवेचना-शैली सरल और बोधगम्य है । बाबू जी ने विचारात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्ध लिखे हैं । दोनों ही प्रकार के निबन्धों में आपने मनोविज्ञानिक ढंग से विषय का प्रतिपादन किया है । विचारात्मक निबन्धों की भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है, प्रचलित मुहावरे भी प्रयुक्त किये गए हैं । अंग्रेजी तथा संस्कृत के वाक्य, मुहावरे तथा श्लोक उद्धरण के रूप में रहते हैं । भावात्मक निबन्धों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है । किन्तु काव्य की रमणीयता उसमें व्याप्त रहती है ।

आचार्य हजारप्रसाद द्विवेदी का प्राचीन और नवीन साहित्य का बहुत गम्भीर अध्ययन है । इसी कारण जहाँ वे शास्त्रीय विवेचन का आश्रय ग्रहण करते हैं वहाँ वे आधुनिक युग के आदर्शों और परिस्थितियों को भी नहीं भूलते ।

आपके निबन्ध अधिकांशतः विचारात्मक हैं, उनमें आपका विशद अध्ययन और प्राचीन साहित्य की गवेषणा स्पष्ट परिलक्षित होती है। आपके निबन्ध शुष्क नहीं, अपितु सरस और आकर्षक हैं। आपका व्यक्तित्व उनमें स्पष्ट झलकता है। द्विवेदी जी की भाषा और शैली आकर्षक है, वह पाठक को एकाएक आकृष्ट कर लेती है। भाषा संस्कृत-गर्भित है, किन्तु उसमें डॉ० श्यामसुन्दरदास की-सी रूक्षता नहीं। प्रभावोत्पादन की आपमें अद्भुत क्षमता है। विचारों की मौलिकता और स्वतन्त्रता आपकी प्रमुख विशेषता है।

आठ : गद्य-गीत

१. गद्य-गीत : एक स्वतन्त्र रचना-शैली

गद्य-गीत साहित्य में आज स्वतन्त्र स्थान और विवेचन का अधिकारी है, क्योंकि विगत कुछ वर्षों में इसने एक ऐसी विशिष्ट शैली और रूप को धारण कर लिया है, जो कि उसे साहित्य के दूसरे अंगों से पृथक् ला खड़ा करता है। यद्यपि कुछ समालोचक गद्यबद्ध काव्य को निबन्धों के अन्तर्गत ही स्थान देते हैं, और गद्य-गीतों को भावात्मक निबन्ध स्वीकार करते हैं; किन्तु आज के गद्य-गीतों में भाव और अनुभूति का आधिक्य है, और इसी कारण वे निबन्धों के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते।

२. परिभाषा

गद्य-गीतों की परिभाषा क्या हो इसका विवेचन करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध गद्य-गीतकार श्री तेजनारायण काक 'क्रान्ति' लिखते हैं : गद्य-काव्य, मेंर विचार में, निबन्ध का सबसे विकसित रूप होने के कारण गद्य का भी पूर्ण विकसित, और सबसे नवीन और ठोस स्वरूप है। इससे आगे गद्य में हमारी अभिव्यंजना-शैली का और अधिक विकास होना कदाचित् असम्भव है। अन्यत्र श्री काक लिखते हैं : मानव-हृदय में प्रायः दो प्रकार के भाव उठा करते हैं। कुछ भाव बहुत धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं, जिनके प्रभाव से हृदय में एक अत्यन्त कोमल स्फुरण-सा होने लगता है। ऐसे ही भावों को पद्यमय कविता में व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु कुछ भाव ऐसे भी होते हैं, जो आंधी की तरह उत्पन्न होते हैं और जिनका प्रवाह पहाड़ी नाले के वेग से भी अधिक द्रुत और प्रचण्ड होता है। ऐसे भाव गद्य-कविता में व्यक्त किये जा सकते हैं, क्योंकि इन भावों को पद्यबद्ध करने की चेष्टा में उनके खो जाने का भय रहता है। मुन्शी पैमचन्द जी एक स्थान पर लिखते हैं : हमारा खयाल है,..... कि गद्य-गीत स्वतन्त्र वस्तु है और कवि जो-कुछ पद्यों में नहीं कह पाता, वह गद्य-गीतों में कहता है। कविता भावना-प्रधान रचना है, और गद्य-गीत अनुभूति-प्रधान।

वस्तुतः गद्य-गीत, गद्य और पद्य के मध्य की वस्तु है। यह उसके नाम

से ही स्पष्ट हो जाता है। गद्य-गीत में पद्य की भावात्मकता अनुभूति-प्रवणता और रसात्मकता रहती है। साथ ही उनमें गद्य की स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता भी विद्यमान रहती है। गद्य-गीत की नवीन शैली का निर्माण गद्य और पद्य के आदान-प्रदान से हुआ है।

३. प्रमुख तत्त्व

गद्य-गीत में कल्पना, भावुकता और रसात्मकता अवश्य रहती है, किन्तु उसे कविता के अन्तर्गत ग्रहीत नहीं किया जा सकता। क्योंकि कविता के लिए आवश्यक छन्दोमय लय का उसमें अभाव है। पर उसे गीत कहा जाता है, वह। इसीलिए कि उसमें गीत की बहुत-सी विशेषताओं का समावेश हो जाता है। जैसे—

१. गीत की उत्पत्ति भावावेश के समय हृदय की किसी दुर्दमनीय किन्तु क्षण-भंगुर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए ही होती है। गद्य-गीत भी इस भावावेशमयी अनुभूति की ही गद्यबद्ध अभिव्यक्ति है।

२. गीत के समान ही गद्य-गीत दीर्घाकार नहीं होता। उसमें लघुत्व होता है।

३. गीत में एक ही भाव, एक ही अनुभूति, एक ही वातावरण और एक ही वृत्ति तथा विचार का आदि से अन्त तक निर्वाह होता है। गद्य-गीत में भी यही क्रम रहता है।

४. गीत की ही भाँति गद्य-गीत भी रसमय होता है। उसमें भी अनुभूति की तीव्रता और निरन्तरता विद्यमान रहती है।

५. गीत की ही भाँति गद्य-गीत की रचना के लिए भी एकाग्रता और विशिष्ट क्षमता की आवश्यकता होती है।

६. गीत की रचना छन्द में होती है, किन्तु गद्य-गीत में छन्द का बन्धन नहीं होता। पर उसमें वाक्यों और वाक्यांशों की आवृत्ति इस प्रकार होती है कि उसमें भी एक विशिष्ट लय उत्पन्न हो जाती है।

४. गद्य-गीत का विकास

गद्य-गीत का इतिहास पुराना नहीं। शायद २०वीं शताब्दी से पूर्व गद्य-गीत का विवरण साहित्य में प्राप्त नहीं होगा। उसके साहित्यिक रूप का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों और विशेष रूप से धार्मिक साहित्य का अनुशीलन करने पर ऐसी अनेक भावना, कल्पना और अनुभूतिपूर्ण

उदात्त गद्यांश मिल जायेंगे जिन्हें कि निश्चय ही गद्य-काव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने प्राचीन वैदिक और उपनिषद्-साहित्य का अनुशीलन करते हुए अनेक ऐसे कवित्वमय गद्य-खण्डों को खोज निकाला है, जिन्हें निस्संकोच गद्य-काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थों, बृहदारण्यक उपनिषद्, और छान्दोग्य उपनिषद् आदि में ऐसे ही अनेक कल्पना तथा भाव-प्रधान गद्य-गीत प्राप्त हो जायेंगे। वैदिक-साहित्य के अनन्तर हमें बाणभट्ट और दण्डी के उपन्यासों और गद्य-रचनाओं में काव्यात्मक गद्य के सुसंस्कृत और विशुद्ध रूप प्राप्त होते हैं। 'जातक कथाओं' में भी कहीं-कहीं कल्पनापूर्ण, समृद्ध काव्यात्मक गद्य उपलब्ध हो जाता है।

आधुनिक युग में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के प्रकाशन के अनन्तर विशुद्ध गद्य-गीत का प्रचलन हुआ है। जब अंग्रेजी में इसका गद्यानुवाद प्रकाशित हुआ, तब अंग्रेजी-साहित्य पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुकरण पर ही इनका प्रचलन हुआ।

पाश्चात्य साहित्य में गद्य-गीत का प्रारम्भिक रूप हम 'बाइबिल' के अनेक उत्कृष्ट गद्यांशों में प्राप्त कर सकते हैं। धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त रूसो आदि प्रकृतिवादी निबन्धकारों तथा उपन्यासकारों के निबन्धों तथा उपन्यासों में कवित्वपूर्ण गद्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। अंग्रेजी-साहित्य में 'बाइबिल' के अनुवाद से तथा मौलिक भाषा के गीतों के गद्यानुवाद से गद्य-गीतों की प्रणाली का प्रचलन हुआ। आज तो वाल्व्हिटेमैन, वाल्टरपेटर तथा एडवर्ड कार्पेण्टर-जैसे उत्कृष्ट गद्य-गीतकार अंग्रेजी-साहित्य में ऊँचे गद्य-गीतों की रचना कर चुके हैं।

५. हिन्दी के कुछ गद्य-गीत लेखक : एक समीक्षा

राय कृष्णदास हिन्दी के सर्वप्रथम गद्य-गीत लेखक हैं। वे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ से विशेष रूप से प्रभावित हैं। रवि बाबू की 'गीतांजलि' के हिन्दी-अनुवाद के अनन्तर हिन्दी-लेखकों में भी गद्य-गीत लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी। उनसे पूर्व प्रसाद जी ने बहुत-सी ऐसी कहानियाँ अवश्य लिखी हैं, जो कि एक प्रकार से गद्य-गीत ही कही जा सकती हैं, किन्तु उनकी कथाओं में गद्य-गीत का शुद्ध कलात्मक रूप न निखर सका। यह कार्य राय कृष्णदास द्वारा ही सम्पन्न हुआ।

राय कृष्णदास के गद्य-गीत भाव, अनुभूति तथा कल्पना से पूर्ण हैं। उनके भावों में जहाँ गाम्भीर्य है, वहाँ भी भाषा सरल और चलती हुई है, उसमें क्लिष्टता और दुरुहता नहीं। इसी कारण आपके गद्य-गीतों में रहस्यमय ऊहापोह का अभाव है। आपकी कल्पना बहुत सजीव और सशक्त है। चि मयी भाषा में अमूर्त भावनाओं को भी आप साकार और स्पष्ट कर देने में विशेष पटु हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति आपको विशेष अनुराग है। आपकी शैली बहुत मधुर और सुष्ठु है। उसमें नाद-लय का विशेष ध्यान रखा गया है। आपके वाक्य छोटे और संगत होते हैं। और शब्दों का चुनाव बहुत मनोहारी है। राय महोदय एक ऊँचे कलाविज्ञ हैं, गद्य-गीतों में उनका एक भावुक कलाकार का रूप अभिव्यक्त हुआ है।

‘साधना’ और ‘प्रवाल’ आपके दो गद्य-गीतों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ‘साधना’ में प्रतीकात्मक (Symbolic) शैली का अनुसरण किया गया है। ‘प्रवाल’ में वात्सल्य रस की प्रधानता है।

वियोगी हरि एक भक्त और भावुक कलाकार हैं। आपकी अभिव्यक्ति बहुत सशक्त होती है। आपके गद्य-गीत भावुकता, सरलता और अनुभूति की तीव्रता से पूर्ण होते हैं। आपका भावुक हृदय और मधुर व्यक्तित्व सभी गीतों में लक्षित किया जा सकता है। वियोगी हरि के गद्य-गीत दो विभिन्न शैलियों में अभिव्यक्त हुए हैं। एक में तो हृदय के भावों की सरलता के अनुरूप भाषा-शैली भी सीधी-सादी, घरेलू और स्वाभाविक है। उसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं, और शब्दों का चुनाव संगत और मनोहर है। दूसरी शैली में वक्रता है, उसमें अनुप्रास, समासयुक्त पदावली और अलंकारों का बाहुल्य है। शब्दों का चुनाव भी असंगत है, उर्दू-फारसी के शब्दों को संस्कृत-शब्दों के साथ प्रयुक्त किया गया है और ‘साहित्य-विहार’ तथा ‘प्रेम-योग’ में आपकी प्रथम शैली के दर्शन होते हैं। ‘भावना’ में पाण्डित्यपूर्ण शैली को प्रयुक्त किया गया है।

वियोगी हरि कृष्ण-भक्त हैं। उन्होंने प्राचीन कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के अनुसार ही कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के ‘अन्तस्तल’ में बहुत सुन्दर गद्य-गीत संग्रहीत हैं। भावना और अनुभूति की प्रधानता आपके गीतों की प्रमुख विशेषता है। शैली आपकी बहुत सुन्दर है, उसमें कहीं भी कृत्रिमता या अस्वाभाविकता नहीं।

संवादात्मक शैली का आपने विशेष आश्रय ग्रहण किया है। भाषा आपकी बहुत मधुर है, विषय के अनुरूप उसमें परिवर्तन होता रहता है। नाद, लय, और संगीत का इतना सुन्दर मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

दिनेशनन्दिनी चोरङ्घ्या (अब डालमिया) के गद्य-गीत 'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', 'उनमन', 'स्पन्दन' और 'सारंग' में संकलित है। प्रायः सभी संकलनों के गीत ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा पार्थिव और अपार्थिव प्रेम से सम्बन्धित हैं। 'शबनम' के अनेक गीत आध्यात्मिक प्रेम से पूर्ण हैं। परन्तु गीतों की एक बड़ी संख्या आध्यात्मिक प्रेम के आवरण में पार्थिव प्रेम की कसक और पीड़ा को ही अभिव्यक्त करती है।

'दुपहरिया के फूल' के गीतों में भाव की अपेक्षा विचार तथा तर्क की प्रधानता है। गीतों का आकार भी बहुत छोटा है। कहीं-कहीं तो वे एक-दो पंक्ति में ही समाप्त हो जाते हैं, फलतः उनमें गीत के चमत्कार की अपेक्षा सूक्ति का चमत्कार अधिक है। 'शारदीया' तथा 'उनमन' में लेखिका की आध्यात्मिक भावनाओं की प्रमुखता है। यह आध्यात्मिक भावनाएँ कहीं वेदान्त से प्रभावित हैं, तो कहीं शैव, वैष्णव या सूफी धर्म से। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें लेखिका का मुख्य उद्देश्य अपने पार्थिव प्रेम की अभिव्यक्ति ही है। कहीं वह अभिव्यक्ति के लिए शैव-दर्शन का आश्रय लेती है तो कहीं सूफी या वेदान्त दर्शन का। अच्छा यही होता कि यदि लेखिका अपने पार्थिव-प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए आध्यात्मिक आवरण को न अपनातीं। ऐसी अवस्था में उनमें मार्मिकता अधिक होती।

देवी जी की प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा बहुत अस्त-व्यस्त और उर्दू-फारसी शब्दों से मिश्रित है। उनकी अभिव्यक्ति भी अस्पष्ट है। किन्तु बाद की रचनाओं में यह दोष दूर हो गए हैं।

अज्ञेय एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि तो हैं ही, वह एक शक्तिशाली गद्य-गीत-लेखक भी हैं। 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' उनके गद्य-गीतों के दो-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'भग्नदूत' के गीत दो प्रकार के हैं, कुछ में तो प्रेम-भाव की प्रमुखता है। उनमें प्रणय-याचना, कसक और अनुनय की प्रधानता है। भाव-मग्नता के कारण उनमें रस और मार्मिकता है। दूसरे प्रकार के गीतों में चिन्तन की प्रधानता है, उनमें मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण किया गया है।

इसी कारण इनमें रस की अपेक्षा चिन्तन का आधिक्य है । 'चिन्ता' के गीतों की रचना नारी और पुरुष के सम्बन्धों के विषय में एक विशिष्ट दृष्टिकोण को अपनाकर की गई है, किन्तु लेखक उस दृष्टिकोण को निभा नहीं सका । प्रेम के सम्बन्ध में कवि ने नारी की अपेक्षा पुरुष के दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त किया है । इसी कारण वह एकांगी है । लेखक ने नारी के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया है, वह वस्तुतः बहुत संकुचित और रूढ़िग्रस्त है ।

सियारामशरण गुप्त ने जो गद्य-गीत लिखे हैं, वे सरल और सरस हैं । उनमें रहस्यमयता नहीं । उनकी अध्यात्म-भावना भी बहुत स्पष्ट और सुलभी हुई है । उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भी बहुत सशक्त और सम्पन्न है । भाषा-शैली भी स्वाभाविक और चित्ताकर्षक है ।

महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह एक उत्कृष्ट निबन्धकार हैं । उनमें भावुकता और सहृदयता है, इस कारण उनके अनेक निबन्ध भी गद्य-गीत ही अधिक बन गए हैं । प्रभावोत्पादन की आपमें अद्भुत क्षमता है । प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं का भी आपने इतनी सजीवता से वर्णन किया है कि वे साकार बन गए हैं । हृदय के उमड़ते हुए भावों को कलापूर्ण शैली में अभिव्यक्त करने में आप विशेष सफल हुए हैं । आप प्राकृतिक सौन्दर्य पर विशेष अनुरक्त हैं । आपकी शैली कलापूर्ण और मादक है । भाषा में चंचलता, प्रवाह, माधुर्य तथा स्फूर्ति है ।

रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' भी हिन्दी के उदीयमान गद्य-गीतकार हैं । प्रेम की मादक और मधुर पीड़ा की अभिव्यंजना आपके गीतों की प्रमुख विशेषता है । परन्तु इस अभिव्यंजना में संयम और मर्यादा है, उसमें व्याकुलता अवश्य है, किन्तु उसका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं । आपके 'पूजा' और 'शुभ्रा' नाम से दो गद्य-गीत-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । भाषा आपकी सुन्दर और सरस है, किन्तु कहीं-कहीं वाक्य कुछ उखड़े हुए हैं ।

राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' के गद्य-गीत विद्यार्थी जी के विपरीत लौकिक प्रेम की उत्कृष्टता को अभिव्यक्त करते हैं । किन्तु 'रजनीश' की शैली अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है, उसमें वक्रता नहीं । 'आराधना' आपके गद्य-गीतों का संग्रह है ।

जगदीश ने 'द्वाभा' के गीतकार के रूप में इस क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त

की है। आपके गीतों में घनीभूत पीड़ा और अवसाद का आधिक्य है। अभिव्यक्ति बहुत मार्मिक और प्रभावोत्पादक है। आपने प्रतीकात्मक (Symbolic) शैली का आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु आपकी दृष्टि अत्यन्त पैनी और सूक्ष्म है।

ब्रह्मदेव के 'निशीथ' में कल्पना की प्रधानता है उन्होंने कल्पना के बल पर अत्यन्त सूक्ष्म मानसिक चित्रों को भी शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उनमें घुंघलापन है। आपके गीतों में आध्यात्मिकता है, और वे उस परम पुरुष की अर्चना में ही कहे गए हैं।

इनके अतिरिक्त श्री तेजनारायण काक 'क्रान्ति' हिन्दी के उत्कृष्टतम गद्य-काव्यकारों में हैं, उनके गीतों में अनुभूति और कल्पना का अद्भुत मिश्रण रहता है। 'मुक्ति और मशाल' तथा 'मदिरा' नामक पुस्तकों से उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिलता है।

नौ : जीवनी : आत्म-कथा : संस्मरण

१. साहित्य की विधा

इतिहास-साहित्य का एक प्रसिद्ध अंग जीवनी-लेखन है। जीवनी लिखने की परिपाटी पुरानी होते हुए भी हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन ही है। मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण-केन्द्र मनुष्य ही है। सारा साहित्य ही मनुष्य का अध्ययन है, किन्तु जीवनी, आत्म-कथा तथा संस्मरणों में वह अध्ययन सत्य और वास्तविकता की कुछ अधिक गहरी छाप लेकर आता है। इतिहास के निर्माण की जब से मनुष्य को चिन्ता हुई, तब से ही जीवनी-निर्माण का युग भी प्रारम्भ हुआ। जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं, प्रत्युत चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें अन्तर-स्वरूप का कलात्मक निरूपण है। जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में प्रस्तुत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएँ और छटाएँ समन्वित हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवनी-लेखक भी अपने नायक के अन्तर को पहचानकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है। जीवन में उसके नायक का अस्तित्व उभर आता है। साहित्य-शास्त्रियों ने जीवन-चरित्रों के कई प्रकार कहे हैं। हमारे मत में जीवनी, आत्म-कथा और संस्मरण यही तीन प्रकार प्रधान रूप में साहित्य में व्यवहृत होते हैं। जीवनी कोई दूसरा आदमी लिखता है, आत्म-कथा स्वयं लिखी जाती है और संस्मरण में जीवन के किसी भी महत्वपूर्ण भाग या घटना का उल्लेख होता है। इसे कोई भी लिख सकता है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने जीवन की किसी महत्वपूर्ण घटना के सम्बन्ध में लिख सकता है अथवा दूसरे व्यक्ति के विषय में भी लिखा जा सकता है। अब हम क्रमशः तीनों का विश्लेषण आगे की पंक्तियों में करेंगे।

२. विकास

हिन्दी में हर तरह की जीवनियाँ उपलब्ध हैं—धार्मिक व्यक्तियों की जीवनियाँ, राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ, इतिहासिक महापुरुषों के चरित्र, साहित्यकारों की जीवनियाँ, और विदेशी महापुरुषों के परिचय। उदाहरण के

लिए धार्मिक महापुरुषों में आपको गौतम बुद्ध से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती तक अनेक महापुरुषों, सन्तों तथा सुधारकों की जीवनियाँ हिन्दी में पढ़ने को मिल सकती हैं; इतिहासिक तथा राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ प्रायः अधिक परिश्रम के साथ लिखी गई हैं और इनकी संख्या भी अधिक है। प्रसिद्ध मौर्य तथा गुप्त सम्राटों की जीवनियाँ, राजपूत-नरेशों और मराठा वीरों के चरित्र, सिख गुरुओं की जीवनियाँ, मुगल-सम्राटों के जीवन-चरित्र तथा आधुनिक राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। हिन्दी के मध्य तथा वर्तमान युग के कवियों और लेखकों की जीवनियाँ भी कम संख्या में नहीं मिलतीं; यद्यपि ये प्रायः साहित्यिक आलोचना के एक अंग के रूप में, अथवा रचना-संग्रहों की भूमिका-स्वरूप पाई जाती हैं। विदेशों के प्रसिद्ध महापुरुषों की भी हिन्दी-साहित्य में उपेक्षा नहीं की गई। आपको सुकरात, ईसा-मसीह, मुहम्मद साहब, कोलम्बस, नेपोलियन, बिस्मार्क, गैरीबाल्डी, जान स्टुअर्ट मिल, मैक्समूलर, धनकुबेर कार्नेगी, अब्राहम लिंकन, बैजमिन फ्रैंकलिन, डी० वेलरा, कार्लमार्क्स, लेनिन व मुस्तफा कमाल पाशा, हिटलर, स्टालिन, सनयात सेन, चांगकाई शेक, जापान के गांधी कागा वा तथा दीनबन्धु एण्डरूज आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन विदेशी व्यक्तियों के चरित्र भी हिन्दी में पढ़ने को मिल सकते हैं।

३. द्विवेदी-युग में जीवनियाँ

हिन्दी के विकास-काल में लगभग ऐसी ही जीवनियाँ लिखी गईं, जिनका उल्लेख हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं। हिन्दी में जीवनी की परिभाषा की कसौटी पर कसे जाने योग्य जीवनियाँ इधर द्विवेदी-युग से ही प्रारम्भ हुईं। प्राचीन हिन्दी के जीवनी-साहित्य में गोस्वामी गोकुलनाथ का 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा नाभाजी के 'भक्तमाल' एवं उस पर लिखी हुई प्रियादास की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें महत्त्व-प्रदर्शन और साम्प्रदायिकता की मात्रा बहुत-कुछ अधिक है। श्री बनारसीदास जैन द्वारा लिखित 'पद्ममय आत्म-कथा' में सत्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उसमें लेखक ने अपनी न्यूनताओं की ओर अधिक संकेत किया है। इधर बालकों पर प्रभाव डालने वाली सरल, ललित, एवं भावपूर्ण शैली में लिखी गई बालोपयोगी जीवनियाँ भी बहुत प्रकाशित हुई हैं। इस सम्बन्ध में छान्न-हितकारी पुस्तक-माला दारागंज प्रयाग की सेवाएँ संस्मरणीय हैं। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी

ने 'सत्यनाराण कविरत्न' तथा 'भारत-भक्त एण्डरूज' नामक दो ग्रन्थ लिखकर हिन्दी के जीवनी-साहित्य में एक अद्भुत क्रान्ति की है। उनकी वर्णन-शैली में चरितनायक के एक-एक जीवन-पहलू का सजीव चित्रण देखते ही बनता है। श्री ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का बड़ा सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा है।

श्री सीताराम चतुर्वेदी की 'महामना मालवीय जी की जीवनी' भी सर्वांग-पूर्ण एवं कलात्मक है। श्रीरामनाथलाल 'सुमन' ने 'हमारे नेता' नामक पुस्तक में आज के भारतीय राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ बड़ी मार्मिक शैली में लिखी हैं। उनकी शैली अपनी तथा वर्णन करने की विधा अद्वितीय है। श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' द्वारा लिखित 'नये भारत के निर्माता' तथा 'नेताजी सुभाष' को भी हिन्दी-जगत् में यथोचित आदर मिला है। श्री सत्यदेव विद्यालंकार की 'हमारे राष्ट्रपति' तथा 'स्वा० श्रद्धानन्द जी की जीवनी', धनश्यामदास बिड़ला का 'बापू', श्री श्यामनारायण कपूर का 'भारतीय वैज्ञानिक', श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'सेगाँव का सन्त', श्री गौरीशंकर चटर्जी का 'हर्षवर्द्धन', श्री रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट् अशोक', श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी की 'विप्लवी जयप्रकाश' तथा 'रोजा लुजेम्बुर्ग' आदि पुस्तकें हिन्दी के जीवनी-साहित्य की गौरव-निधि हैं। आजकल जीवनी-साहित्य में राजनीतिक नेताओं की जीवन-कथाओं को विशेष महत्त्व मिल रहा है। वैसे साहित्यिक कृतिकारों की जीवनियों की दिशा में भी डॉक्टर रामविलास शर्मा का 'निराला' उसके शुभ प्रारम्भ का द्योतक है। डॉ० रांगेय राघव ने भी उपन्यास के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि महापुरुषों तथा साहित्यकारों के जीवन पर प्रकाश डाला है और उनकी 'देवकी का बेटा', 'लोई का ताना', 'रत्ना की बात', 'भारती का सपूत' आदि पुस्तकें प्रकाशित भी हो चुकी हैं। डॉ० रांगेय राघव का यह प्रयोग साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत करने में सहायक होगा, ऐसी आशा है।

४. आत्म-कथा

इधर कुछ दिनों से 'आत्म-कथा' लिखने की परिपाटी भी चल निकली है। वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्म-कथा से प्रामाणिक दूसरे की जीवनी नहीं हो सकती। साधारण जीवन-चरित्र से 'आत्म-कथा' में कुछ

विशेषता होती है । आत्म-कथा-लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता । किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्म-श्लाघा की प्रवृत्ति द्योतित होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाशन में रुकावट डालता है । जीवनी लिखने वाले को दूसरे के दोष और आत्म-कथा लिखने वाले को अपने गुण कहने में सचेत रहने की आवश्यकता है । आत्म-कथाएँ दो रूप में लिखी जा सकती हैं । उनमें पहली, श्रेणी-सम्बद्ध और द्वितीय स्फुट निबन्धों के रूप में हमें हिन्दी में देखने को मिलती है । सम्बद्ध रूप में राजेन्द्र बाबू तथा श्यामसुन्दरदास की आत्म-कहानी एवं स्फुट निबन्धों के रूप में बाबू गुलाबराय एम० ए० की 'मेरी असफलताएँ' उल्लेखनीय हैं । वैसे हिन्दी में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथाएँ भी मिलती हैं, किन्तु हम यहाँ हिन्दी की मौलिक आत्म-कथाओं का ही उल्लेख करेंगे, अनूदित का नहीं । बाबू श्याम-सुन्दरदास की आत्म-कथा उनकी जीवन-कहानी होने के अतिरिक्त 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' और हिन्दी के उत्थान का सजीव इतिहास है । हिन्दी में 'हंस' के 'आत्म-कथा-अंक' ने भी इस दिशा में पर्याप्त निर्देश किया था । सियारामशरण गुप्त के 'झूठ-सच' तथा 'बाल्य-स्मृति' आदि कुछ लेख इसी कोटि के हैं । निराला जी ने 'कुल्ली भाट' में जीवनी के सहारे अपनी आत्म-कथा का भी कुछ अंश अव्यक्त रूप से दे दिया है, किन्तु वह कहानी की कोटि में ही रहेगी । आधुनिक साम्यवादी प्रवृत्ति के अनुकूल उनके 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्ली भाट' जीवनी के विषय बन जाते हैं, किन्तु इनमें कल्पना का पुट अधिक है । महादेवी जी की 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक कृतियाँ आत्म-कथा और निबन्ध के बीच की कड़ी हैं ।

अब धीरे-धीरे आत्म-कथा-साहित्य प्रगति-पथ की ओर बढ़ रहा है । वैसे हिन्दी के प्रारम्भिक काल की मौलिक आत्म-कथाओं में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक पुस्तक विशेष स्मरणीय रहेगी । भाई परमानन्द की 'आप बीती' एक साहसपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों की कहानी है । अभी पिछले दिनों 'राजहंस प्रकाशन' दिल्ली द्वारा स्वामी भवानीदयाल संन्यासी की आत्म-कथा 'प्रवासी की आत्म-कथा' नाम से प्रकाशित हुई है । राजनीतिक महत्त्व के साथ उसका साहित्यिक महत्त्व भी है ।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर' तथा श्री वियोगी हरि की 'मेरा जीवन-प्रवाह' नामक पुस्तकें हिन्दी की आत्म-कथाओं के निर्माण में एक विशेष दिशा की द्योतक हैं । श्री राहुल जी अपनी बहुभाषा-विज्ञता तथा विद्वत्ता के लिए चिरप्रख्यात हैं, उनकी 'मेरी जीवन-यात्रा' नामक पुस्तक प्रगतिशील परम्परा के लिए एक ज्वलन्त प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध होगी । इसके अतिरिक्त बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल, प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'पत्रकार की आत्म-कथा' एवं 'मेरी जीवन-झाँकियाँ' नामक पुस्तकें हिन्दी-पत्रकारिता का सजीव इतिहास सिद्ध होंगी । कुछ दिन हुए प्रसिद्ध आलोचक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की 'पथचिह्न', 'परिव्राजक की प्रजा' तथा 'प्रतिष्ठान' नाम से आत्मसंस्मरणात्मक पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं । श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्म-कथा 'चौद-सूरज के बीरन' नाम से प्रकाश में आ चुकी है । प्रसिद्ध वैयाकरण श्री किशोरीदास वाजपेयी तथा श्री भगवानदास केला की आत्म-कथाएँ अभी पिछले दिनों 'साहित्यिक जीवन के संस्मरण और अनुभव' तथा 'मेरा साहित्यिक जीवन' नाम से प्रकाशित हुई हैं । इनमें हमें जहाँ उनके साहित्यिक जीवन की झाँकी मिलती है वहाँ साहित्य-जगत् के अनेक महारथियों से सम्बन्धित अनेक मनोरंजक बातें भी विदित होती हैं । श्री विनोदशंकर व्यास ने अपने संस्मरण 'उलझी स्मृतियाँ' नामक पुस्तक में संयोजित किये हैं । इसी प्रकार सम्पादकाचार्य पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एवं श्रीराम शर्मा के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आत्म-चरितात्मक स्फुट लेख भी इस दिशा के विकास का परिचय देते हैं । प्रसिद्ध शैलीकार श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी ने भी 'नई धारा' में 'मुझे याद है' शीर्षक से एक आत्म-कथात्मक लेख-माला प्रारम्भ की है ।

५. संस्मरण

जीवनी तथा आत्म-कथा के उपरान्त संस्मरण-साहित्य का उल्लेख कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है । हिन्दी में संस्मरण लिखने की कला का अभी प्रारम्भ ही समझें । इसका प्रारम्भ वैसे तो सम्पादकाचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा द्वारा हुआ था, परन्तु तब कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई थी । संस्मरण लिखने की कला का विकास हमें सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', आचार्य शिवपूजनसहाय एवं श्रीरामनाथ 'सुमन' की रचनाओं

में दृष्टिगत होता है। वैसे यात्रा-सम्बन्धी जो अनेक पुस्तकें हिन्दी में निकली हैं; उनमें भी हमें संस्मरण की छुट-पुट झलक देखने को मिलती हैं। श्रीशिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा', पण्डित रामनारायण मिश्र एवं बा० गौरीशंकरप्रसाद वकील की 'यूरोप-यात्रा के छः मास', मुन्शी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा' तथा स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'अमरीका-भ्रमण' आदि पुस्तकें पठनीय हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत आदि देशों के सम्बन्ध में खूब लिखा है। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन की भी 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' पुस्तकें हिन्दी के संस्मरण-साहित्य की अतुल निधि हैं। श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी तथा श्री राजवल्लभ ओझा ने अपनी विदेश-यात्रा के संस्मरण 'पैरों में पंख बाँधकर' और 'बदलते दृश्य' नाम से प्रकाशित कराये हैं। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन और अमृतराय की 'चीनी जनता के बीच' एवं 'सुबह के रंग' नामक पुस्तकें संस्मरण-लेखन की कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

क्योंकि इधर वर्षों से पराधीन रहने के कारण देशवासियों के जीवन की धाराएँ बँधी और अवरुद्ध रही हैं इसलिए साहित्य के क्षेत्र में जो अनेकरूपता होनी चाहिए थी, वह नहीं है। उदाहरण के लिए अभी-अभी भारत में प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक, सिपाही अथवा व्यापारी या भूगोल-सम्बन्धी अन्वेषक कितने हुए हैं; यह भी किसी को पता नहीं। परिणामस्वरूप उक्त श्रेणी के व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली जीवनियों तथा संस्मरणों का भी प्रायः अभाव-सा है देश के जीवन की अनेकरूपता के साथ साहित्य की इस दशा में भी अधिकाधिक प्रगति हो सकेगी, ऐसी आशा है।

दस : रेखा-चित्र : स्केच

१. परिभाषा

चित्रकार जिस प्रकार अपनी तूलिका के द्वारा कोई चित्र बनाता है, उसी प्रकार लेखक भी अपनी शैली द्वारा ऐसे शब्दों को कागज पर उतारता है, जिससे वर्ण्य वस्तु का आकृति-चित्र पाठक की आँखों के सम्मुख भूलने लगता है। चित्रकार की सफलता जहाँ उसके रंगों के अंकन में निहित है वहाँ रेखा-चित्रकार की लेखनी की महत्ता उसके शब्द-गुच्छन में समाविष्ट है। दोनों को ही भारी साधना करनी पड़ती है—एक को चित्र की रेखाओं में ऐसा रंग भरना पड़ता है जो कि नीरव रूप से अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति दर्शक को देता है, इसके विपरीत रेखा-चित्रकार को ऐसे शब्दों का प्रयोग अपनी कृति में करना होता है कि जिसको पढ़कर पाठक यह जान लें कि उद्दिष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति अपने रूप तथा आकार में कैसा है ? हिन्दी में रेखा-चित्र अथवा स्केच शब्द दोनों ही प्रकार की कृतियों के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ हम किसी लेखक द्वारा चित्रित किये गए शब्दों के आधार पर निर्मित स्केच का ही उल्लेख करेंगे।

२. उपादेयता

रेखा-चित्र लिखना, लेखनी के सहारे किसी भी वस्तु या व्यक्ति का ज्यों-का-त्यों चित्र खींच देना, भारी साधना का कार्य है। हिन्दी-साहित्य में रेखा-चित्र की कला बहुत विकसित नहीं हुई। वास्तव में परम्परागत कला-विधानों के उत्थान की भाँति इसका भी इतिहास है। समय की गति को परखकर जीवन की विभिन्न प्रेरणाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करना ही साहित्य का एक-मात्र उद्देश्य है। इन अनुभूतियों को प्रतिमूर्त करने के लिए साहित्यकार विभिन्न उपादानों का आश्रय लेकर अपनी कला का निदर्शन करता है। नये युग के कलाकार ने अपनी अनुभूतियों को कम-से-कम समय और कम-से-कम शब्दों में प्रकट करने के लिए ही रेखा-चित्र का माध्यम अपनाया।

३. कला-विधान

रेखा-चित्र और स्केच हिन्दी-साहित्य में एकांकी, मुक्तक काव्य और रिपोर्ताज की भाँति ही अस्तित्व में आये। जिस प्रकार एक महाकाव्य में कही गई बात को मुक्तक काव्य आंशिक रूप में पूरा कर देता है और नाटक की पूरी कथा को एकांकी अपने में आत्मसात् करके जन-मन-रंजन करता है तथा रिपोर्ताज एक कहानी की आधार-भूमि का प्रकटीकरण पाठकों के समक्ष करता है उसी प्रकार रेखा-चित्र और स्केच निबन्ध और कहानी के बीच अपना स्थान बनाता दीखता है। किन्तु वास्तव में रेखा-चित्र न तो निबन्ध है और न कहानी। उसका अपना अलग ही अस्तित्व है, उसका अपना अलग ही कला-विधान है। जिस प्रकार आज के मानव के चरम उत्थान तथा संगठन का द्योतन करने वाली अन्य बहुत-सी कलाओं का प्रस्फुटन हुआ उसी प्रकार रेखा-चित्र भी अस्तित्व में आया।

४. साधना का पथ

साहित्य में रेखा-चित्रकार को अत्यन्त कठोर साधना का पथ अपनाने की आवश्यकता है। वह ही एक-मात्र ऐसा कलाकार है जो अपने चारों ओर फैले हुए विस्तृत समाज के किसी भी अंग तथा पक्ष का चित्रण अपनी लेखनी-तूलिका से ऐसा सजीव करता है कि पाठक यह अनुभव करने लगता है कि मैं वर्ण्य वस्तु के अत्यन्त सान्निध्य में हूँ। वह प्रकृति की जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नहीं हुए, जिसने आँख खोलकर दुनिया को नहीं देखा, जिसे कभी जीवन-संग्राम में जूझने का अवसर नहीं मिला, जो संसार के भले-बुरे आदमियों के संसर्ग में नहीं आया, मनोविज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नहीं किया और जिसने एकान्त में बैठकर जिव्दगी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचार नहीं किया, भला वह क्या सजीव चित्रण कर सकता है ?^१

५. कला में उसकी सत्ता

रेखा-चित्रकार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह जिस व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष का चित्रण करता है, उसे पहले अपने अन्तर-दर्पण में प्रतिच्छायित

कर ले। यदि उसने ऐसा किया तो उसकी कला और भी निखर उठेगी तथा अभीप्सित वस्तु तथा व्यक्ति की छाया उसकी कृति में आये बिना न रहेगी। इसलिए रेखा-चित्र कला, अनुभूति और सामाजिक घटना-क्रम का अपूर्व संगम है। कला के अन्दर रेखा-चित्र की एक स्वतन्त्र सत्ता है, उसे पढ़ने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा के अगले मोड़-प्रवाहों को जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उस पूरी तस्वीर को पढ़कर सन्तुष्ट हो जाता है और चूँकि रेखा-चित्र एक चित्र है, इस कारण उसका वर्ण्य विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है, और वास्तविक भी।^१

६. रेखा-चित्रों के प्रकार

रेखा-चित्र में जहाँ एक ओर लेखक का, किसी वस्तु अथवा व्यक्ति-विशेष का अपना निजी अध्ययन होता है वहाँ दूसरी ओर उस व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष का वास्तविक चित्रण भी रहता है। यदि वह वस्तु पेड़, पार्क, भरने आदि की भाँति जड़ है तो लेखक को उसका वास्तविक चित्रण करने के उपरान्त यह भी लिख देना चाहिए कि वह वहाँ के लोगों को अथवा उसे कैसी लगती है।

इन जड़ प्राणियों के अतिरिक्त रेखा-चित्र ऐसे चेतन प्राणियों पर भी लिखे जा सकते हैं, जो न तो मनुष्य की भाँति विवेकशील होते हैं और न बोल ही सकते हैं। पर अपने जीवन के सुख-दुःख तथा आरोह-अवरोह को, वे अपने संकेतों द्वारा अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस श्रेणी में पशु-पक्षी आते हैं।

स्केच-लेखन का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण विषय है मनुष्य। सृष्टि की अन्य जड़ तथा मूक वस्तुओं की भाँति मनुष्य अधिक विवेकवान तथा संवेदनशील प्राणी है। अपनी सहज कल्पना और उर्वरा-शक्ति के कारण उसका समाज में विशेष स्थान है। इसलिए व्यक्ति का रेखा-चित्र अंकित करने वाले लेखक का उद्देश्य पाठक के सामने अपने अभीष्ट पात्र का एक स्पष्ट चित्र अंकित करना-मात्र है। उसके शब्दों तथा वाक्यों का गठन इस प्रकार का होना चाहिए कि जिससे वर्ण्य चरित्र के सम्बन्ध में अधिक कुछ जानने की उत्कण्ठा ही मन में न रहे। रेखा-चित्रकार के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह अभिप्रेत व्यक्तित्व

की साधारण-से-साधारण, छोटी-से-छोटी और हल्की-से-हल्की रेखा को अपने चित्र में स्थान दे ।

रेखा-चित्र की कला जीवनी और संस्मरण लिखने की कला से सर्वथा भिन्न है । पर इन तीनों में इतना सूक्ष्म भेद है कि बड़े-बड़े कुशल रेखा-चित्र-कारों की दृष्टि भी धोखा खा जाती है । किसी छोटे-से संस्मरण का अथवा जीवन-वृत्त की किसी विशेष घटना का रेखा-चित्र में उतना ही उपयोग हो सकता है जितना उसकी रेखाओं को स्पष्ट करने अथवा चमकाने में सहायक हो । रेखा-चित्रकार का सर्वोपरि कर्तव्य यह है कि जिस किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के विषय में वह रेखा-चित्र लिखने का संकल्प करे, सबसे पहले वह उस व्यक्ति अथवा वस्तु के विषय में वास्तविक जानकारी प्राप्त कर ले । यद्यपि ये बातें साधारण-सी दृष्टिगत होती हैं, परन्तु कभी-कभी इनमें कोई-न-कोई असाधारण विशेषता निहित होती है ।

७. हिन्दी में रेखा-चित्र

हिन्दी में रेखा-चित्र लिखने की कला का अभी प्रारम्भ ही समझे । कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं में कोई सुन्दर रेखा-चित्र पढ़ने को मिल जाता है" । वैसे सम्पादकाचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने इस कला में पथ-प्रदर्शन का काम किया था । उनके कई महत्त्वपूर्ण रेखा-चित्र उनकी पुस्तक 'पद्म-पराग' में संग्रहीत हैं । भावों के साथ भाषा का ऐसा मेल शर्मा जी की शैली की अपनी विशेषता है । स्वर्गीय शर्मा जी के बाद जिन महानुभावों ने इस कला को प्रश्रय देने का कष्ट उठाया उनमें पं० श्रीराम शर्मा (विशाल-भारत-सम्पादक) प्रमुख हैं । इस विषय में वे वास्तव में पं० पद्मसिंह शर्मा के उत्तराधिकारी हैं । जिस समय उनके रेखा-चित्र 'विशाल-भारत' में निकल रहे थे उस समय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'विशाल-भारत' के तत्कालीन सम्पादक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था—श्रीराम जी तो उत्तरोत्तर गजब ढा रहे हैं । बन्दूक से बढ़कर इनकी लेखनी का निशाना बंठता है । पढ़ने वाला तड़पकर रह जाता है । नज़र से बचाने के लिए इनके डंड पर भैरव जी का गंडा बांध दीजिए । श्री श्रीराम शर्मा के रेखा-चित्रों का संग्रह 'बोलती प्रतिमा' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है ।

श्री श्रीराम शर्मा के अतिरिक्त स्वयं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी कुछ

रेखा-चित्र लिखे हैं। उनके रेखा-चित्रों के 'रेखा-चित्र', 'संस्मरण' और 'हमारे आराध्य' नाम से तीन संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं। हिन्दी में रेखा-चित्र लिखने की प्रणाली को प्रश्रय देने का कार्य 'हंस' के 'रेखा-चित्रांक' ने भी किया है। इस विशेषांक से पूर्व हिन्दी में रेखा-चित्र लिखने की पहल कम ही होती थी। प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच' तथा 'रेखा-चित्र' नामक पुस्तकें इस दिशा में सबल प्रयत्न हैं। श्री गुप्त जी के अतिरिक्त श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, श्रीमती महादेवी वर्मा और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने इस ओर पर्याप्त प्रगति की है। महाप्राण निराला के 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'चतुरी चमार' में भी रेखा-चित्र की कला का कुछ आभास अवश्य मिलता है।

श्री बेनीपुरी ने अपने रेखा-चित्र अधिकांशतः कहानी-प्रधान लिखे हैं। उनके इस प्रकार के रेखा-चित्रों का संग्रह 'माटी की मूर्तें' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'बलदेव' उनका सर्वोत्कृष्ट स्केच कहा जा सकता है। बेनीपुरी-जैसी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि लिये हुए श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' भी रेखा-चित्रों की दुनिया में धूमकेतु के समान उदित हुए और यह हृष्य और गौरव की बात है कि उन्होंने रेखा-चित्रों के अंकन करने में पर्याप्त कुशलता और ख्याति अर्जित की। उनके इस प्रकार के रेखा-चित्रों का संग्रह 'भूले हुए चेहरे' नामक पुस्तक में हुआ है।

इधर महादेवी वर्मा ने अपने गद्य में रेखा-चित्रों के नये प्रयोग किये हैं। कविता की भाँति उन्हें गद्य-लेखन पर भी पूर्ण अधिकार है। महादेवी जी के रेखा-चित्रों में दैनन्दिन जीवन में आने वाले उन उपेक्षित व्यक्तियों को रेखाओं द्वारा उभारा गया है, जिनके चरित्रों में हमारे समाज का जर्जर 'ग्रह' और 'सामन्तशाही' बोलती है। महादेवी जी के रेखा-चित्रों में पात्र स्वयं कम बोलते हैं। लेखिका उनके विषय में अधिक बोलती है। क्योंकि उनके इन संस्मरणों में संस्मरणों का अंश प्रचुर परिमाण में मिलता है, इसलिए लेखिका को ही अधिक अपनी बात कहनी पड़ती है। उनकी 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' ऐसी पुस्तक हैं, जिनमें आपको संस्मरण की चाशनी में पगे हुए रेखा-चित्र मिलेंगे।

उक्त लेखकों के अतिरिक्त हिन्दी के कुछ और कहानीकारों तथा नाटककारों

ने भी रेखा-चित्र लिखने की ओर कदम बढ़ाया है । इनमें सर्वश्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', प्रभाकर माचवे, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, देवेन्द्र सत्यार्थी तथा महावीर अधिकारी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । देवेन्द्र सत्यार्थी की 'रेखाएँ बोल उठीं' नामक पुस्तक में कुछ अच्छे रेखा-चित्र हैं । श्री हर्षदेव मालवीय के 'पुराने' तथा 'पोंगल गुरु' शीर्षक स्केच भी उनकी कला-निपुणता का आभास कराते हैं ।

जैसा कि हम पहले लिख आए हैं कि रेखा-चित्र आज के क्रान्तिकारी युग की साहित्यिक अभिव्यक्तियों का ज्वलन्त माध्यम है । जीवन की विभिन्न क्रांति-प्रतिक्रांतियों को सीधा स्वर देने में भी रेखा-चित्रों का भारी प्रयास है ।

इस साहित्य-रूप को गद्य की भाँति अनेक लेखकों ने कविता में भी अपनाया है । इनमें सर्वश्री सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भगवती चरण वर्मा, हरिवंशराय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, और शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि अनेक कवियों ने अपनी कविताओं में अनेक सुन्दर रेखा-चित्र प्रस्तुत किये हैं । लेकिन यहाँ हमें गद्य-साहित्य में प्रयुक्त किये गए रेखा-चित्रों के माध्यम से ही विशेष प्रयोजन है । उक्त सभी कवियों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार जीवन के कटु अनुभवों को शब्दों में सजाया है ।

ग्यारह : रिपोर्टाज

१. व्युत्पत्ति

रिपोर्टाज शब्द मूलतः फ्रांसीसी भाषा से अन्य बहुत-से शब्दों की भाँति हिन्दी में आया है । इसका बहुत-कुछ सम्बन्ध अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' शब्द से है, जिसका असली रूप हमारे दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाला 'रपट' शब्द है । 'रिपोर्ट' प्रायः समाचार-पत्रों के लिए लिखी जाती है और 'रपट' थानों या अदालतों में । यह तो निर्विवाद है कि 'रिपोर्ट' और 'रपट' में जो बातें लिखी जाती हैं, उनमें प्रायः अतिशयोक्ति और अतिरंजना का आश्रय लिया जाता है । रिपोर्टाज इन्हीं 'रिपोर्ट' तथा 'रपट' शब्दों का शुद्ध साहित्यिक रूप है । परन्तु जिस प्रकार की अतिरंजना 'रिपोर्ट' और 'रपट' में होती है, उससे यह कोसों दूर है । क्योंकि रिपोर्टाज का निर्माण विशुद्ध साहित्यिक पृष्ठभूमि पर होता है, अतः वह कला के 'सत्य', 'शिव', सुन्दरम्' रूप के ही अधिक निकट है ।

२. इतिहास

किसी भी घटना का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक को सहज ही प्रभावित कर सके, रिपोर्टाज कहलायगा । इसके लेखन में कोई भी व्यक्ति तब तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह कल्पना का आश्रय अपने वर्णन में न ग्रहण करेगा । इस कला का वास्तविक विकास इस महायुद्ध में हुआ है । यह साहित्य का ऐसा अंग है कि इसे चाहे जितना बढ़ा-चढ़ाकर इसके आधार पर किसी भी उद्दिष्ट ध्येय का वर्णन किया जा सकता है । ऐसा रूप भी हो सकता है कि रिपोर्टाज दो लाइन का हो और कहीं-कहीं इससे पोथे-के-पोथे भी रंगे जा सकते हैं ।

रिपोर्टाज को आधुनिक पत्रकार-कला के अधिक निकट कहा जा सकता है । जिस प्रकार समाचार-पत्रों में विशालकाय उपन्यास एक ही दिन में नहीं छप सकते, उसी प्रकार किसी भी घटना के आधार पर ली गई विस्तृत रिपोर्ट को भी उसमें स्थान नहीं दिया जा सकता । उस रिपोर्ट के संक्षिप्तीकरण को ही हम साहित्यिक भाषा में रिपोर्टाज कह सकते हैं । इस दृष्टिकोण से रिपोर्टाज

हिन्दी की कहानी तथा निबन्ध के ही अधिक निकट है। हिन्दी-कहानी में जिस प्रकार जीवन के किसी भी अंग तथा कार्य-व्यापार का समीचीन विवेचन होता है, और निबन्ध अपने छोटे-से कलेवर में उद्दिष्ट लक्ष्य को वर्णित कर देता है उसी प्रकार रिपोर्ताज भी अपने संक्षिप्त साहित्यिक रूप में देश में दिन-प्रतिदिन घटने वाली किसी भी एक घटना का चित्रण पाठकों के समक्ष रख देता है। रिपोर्ताज को लिखने में लेखक को अपने उत्तरदायित्वपूर्ण पद के गौरव के अनुरूप ही शब्द, भाव तथा पृष्ठभूमि का निर्माण करना होता है।

जिस प्रकार समाचार-पत्रों के लिए रिपोर्ट भेजने वाले संवाददाता को तटस्थ भाव से समाचारों की रिपोर्ट तैयार करनी पड़ती है, उसी प्रकार किसी भी रिपोर्ताज-लेखक को अपने मानसिक सन्तुलन को अक्षुण्ण बनाये रखकर बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ घटना का अध्ययन करके रिपोर्ताज का निर्माण करना होता है। एक कहानी-लेखक के समान रिपोर्ताज-लेखक को भी अपने सीमित कलेवर में उस समस्या का समाधान प्रस्तुत करना पड़ता है, जिसको कि लक्ष्य में रखकर वह रिपोर्ताज लिखता है। रिपोर्ताज में केवल घटनाओं का चित्रण ही नहीं, प्रत्युत कहानी-जैसी रोचकता होना भी अनिवार्य है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कथा केवल एक उद्देश्य को ही लक्ष्य करके लिखी जाती है, और रिपोर्ताज में विभिन्न घटनाओं का समन्वय होता है। जिस तरह अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण और उनके मानसिक आरोह-अवरोह को प्रदर्शित करने के लिए स्थान की न्यूनता होती है, उसी प्रकार रिपोर्ताज के लेखक के लिए भी कम समय तथा कम स्थान में अपनी भावनाओं को व्यक्त करना अनिवार्य है। एक रेखा-चित्रकार अपनी कूची के जरा-से संकेत से ही समग्र चित्र की भावनाओं को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है, उसी प्रकार रिपोर्ताज लेखक को भी संक्षिप्त शब्दावली में घटना का ठीक-ठीक और मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करना होता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह उसके प्रकटीकरण में नाटकीयता की परिपाटी को अपनाए अथवा यों ही साधारण रूप से उसका चित्रण कर दे।

३. कला और उद्देश्य

रिपोर्ताज के निर्माण में उसके लेखक को वर्ण्य घटना या वस्तु का विवरण प्रस्तुत करते समय तीन बातों का विशेष ध्यान रखना होता है। वास्तव में यह तीन बातें ही रिपोर्ताज-कला की मूल आधार हैं। सबसे पहले उसे वर्ण्य-

घटना या वस्तु के वास्तविक इतिहास को जानना आवश्यक है । इसके अभाव में वह उस घटना का सही-सही रूप पाठकों के समक्ष न रख पायगा । दूसरी आवश्यक बात है कि वह घटना में भाग लेने वाले पात्रों का, चाहे वह कल्पित हों या यथार्थ, बाह्य रेखा-चित्र उपस्थित कर दे । अन्तिम और सबसे आवश्यक तत्त्व यह है कि रिपोर्टाज-लेखक को सजग व सचेष्ट होकर घटना में निहित स्वार्थों तथा उसके पात्रों की मानसिक गतिविधियों का विश्लेषण करना चाहिए । यह कार्य यद्यपि कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं । सच्चा कलाकार वही है जो सांसारिक स्वार्थों से ऊपर उठकर निरपेक्ष भाव से इन घटनाओं का वर्णन करे । तभी रिपोर्टाज-कला निखर सकती है । यहाँ यह भी लिख देना आवश्यक है कि रिपोर्टाज केवल आँखों-देखी घटना के आधार पर ही सही रूप में लिखा जा सकता है । यदि ऐसा न किया गया तो समाचार-पत्र के लिए भेजी गई रिपोर्ट और रिपोर्टाज में कोई अन्तर नहीं रहेगा । क्योंकि समाचार-पत्रों को भेजी जाने वाली रिपोर्ट तो केवल सुनी-सुनाई घटना के आधार पर तैयार की जा सकती है । रिपोर्टाज-लेखक को भाव-प्रवण तथा कल्पनाशील होने के साथ-साथ जोखिम उठाने वाला भी होना चाहिए, जिससे समय पड़ने पर युद्ध-भूमि में भी जाकर वह इसमें सफल हुआ तो रिपोर्टाज की कला और उद्देश्य सार्थक समझे जायेंगे ।

४. हिन्दी में रिपोर्टाज

हिन्दी में रिपोर्टाज इसी दशाब्दी में प्रचलित हुआ है । द्वितीय महा समर से उत्पन्न हुई विभीषिकाओं ने हिन्दी के कलाकारों को भी भूकम्प और वे जन-जीवन के सम्पर्क में आकर उसमें फैली हुई वितण्डा और दैन्य का सही मूल्यांकन करने को विवश हुए । बंगाल में पड़े अकाल ने बहुत-सी ऐसी समस्याएँ उपस्थित कीं जो कि रिपोर्टाज का विषय बन सकती थीं । भारतीय भाषाओं के अन्य लेखकों के सदृश हिन्दी-लेखक भी इन परिस्थितियों तथा समस्याओं से प्रभावित हुए । कुछ हिन्दी-कलाकारों ने बंगीय जन-जीवन की इस स्थिति के बहुत मार्मिक चित्र रिपोर्टाज के रूप में प्रस्तुत किये हैं । इसके अतिरिक्त आजाद हिन्द सेना और बम्बई के नाविक-विद्रोह ने हिन्दी-कलाकारों की चेतना को स्पर्श किया । इनका चित्रण भी रिपोर्टाज में हुआ है । भारत-विभाजन और तदनन्तर उत्पन्न हुई काश्मीर की समस्या ने हमारे सम्मुख देश के जीवन को एक नवीन रूप में ही

प्रस्तुत किया। हिन्दी के कलाकारों ने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को त्यागकर एक बार फिर जन-जीवन के सम्पर्क में आकर, काश्मीर की दुर्गम घाटियों का भ्रमण करके अपने अनुभवों को रिपोर्ताज के रूप में प्रस्तुत किया।

आजकल हिन्दी के रिपोर्ताज-लेखकों में सर्व श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदान-सिंह चौहान, अमृतराय, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे तथा हंसराज 'रहबर' इत्यादि प्रमुख हैं।

बारह : समालोचना

१. समालोचना शब्द का अर्थ :

साधारणतया समालोचना शब्द का अर्थ गुण-दोष-विवेचन ही ग्रहण किया जाता है, जब हम इसे साहित्य के अन्तर्गत ग्रहण करते हुए इस शब्द का अर्थ करते हैं तब भी इससे लगभग यही भाव व्यक्त होता है। हिन्दी का समालोचना शब्द संस्कृत की 'लुच्' धातु से बना है। 'लुच्' का अर्थ है देखना—समीक्षा करना। इस प्रकार आलोचना का मुख्य क्षेत्र साहित्य के विविध पक्षों की समीक्षा—सूक्ष्म विवेचन—ही है, और हम साहित्यिक आलोचक से यही आशा करते हैं कि उसे विद्वान् होना चाहिए और किसी भी साहित्यिक विषय पर अधिकार पूर्वक विवेचन करके उसके गुण-दोष-प्रदर्शन के साथ उस साहित्यिक रचना या विषय पर अपना निर्णयात्मक मत प्रकट करना चाहिए। परन्तु सामयिक युग में हम आलोचना-साहित्य के अन्तर्गत केवल उपर्युक्त प्रकार की आलोचना को ही ग्रहण नहीं करते अपितु साहित्य के विषय में लिखे गए सम्पूर्ण समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक साहित्य को भी ग्रहीत किया जाता है। कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि जीवन से सम्बन्धित हैं, और वे जीवन की व्याख्या करते हैं। आलोचना में कविता, नाटक तथा उपन्यास की व्याख्या तो की जाती है, स्वयं आलोचनात्मक ग्रन्थों की भी व्याख्या हो सकती है। यदि सम्पूर्ण साहित्य को हम जीवन की व्याख्या माने तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक अथवा निर्णयात्मक दृष्टिकोण से ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा उस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मत प्रकट करना ही आलोचना कहलाता है।

२. आलोचना की हानियाँ और लाभ

आलोचना और साहित्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, साहित्य के साथ समालोचना का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से ही किसी-न-किसी रूप में होता आया है। मनुष्य में वस्तु-निरीक्षण और उसके गुण-दोष-विवेचन के साथ अपना मत प्रकट करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, और वह प्रत्येक वस्तु का

अपनी रुचि के अनुसार गुण-दोष-विवेचन करके उसें अच्छी या बुरी अथवा साधारण श्रेणी के अन्तर्गत रख देता है। (मनुष्य ही यही प्रवृत्ति समालोचना के मूल में भी वर्तमान रहती है) आज पाठकों का एक विशिष्ट वर्ग समालोचना की उपादेयता में सन्देह प्रकट करता है। उसका कथन है कि साहित्यकार और पाठक के बीच में एक जागरूक आलोचक के माध्यम की क्या आवश्यकता ? काव्य या कला के मूल आनन्द की प्राप्ति के लिए इन व्याख्याकारों की क्या जरूरत ? उसका कथन है कि तुलसी अथवा सूर के विषय में आलोचकों द्वारा लिखी गई आलोचनाओं के पढ़ने से क्या लाभ ? हम जितना समय विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित मतों के अध्ययन में लगाते हैं, उतना ही समय हम मूल साहित्यकार की रचनाओं के अध्ययन में लगा सकते हैं ? साहित्य के मूल में स्थित सौन्दर्य या आनन्द की भावना पर आलोचकों के हृदयहीन वर्ग द्वारा कठोरतापूर्वक आघात किया जाता है, और व्यर्थ में विज्ञानिक चीर-फाड़ द्वारा आलोचक साहित्य अथवा कला को अपनी रुचि अथवा कुरुचि द्वारा दूषित कर देते हैं। वास्तव में आज मूल साहित्य आलोचना-पुस्तकों, व्याख्याओं और समीक्षाओं द्वारा छिपता जा रहा है, साहित्य का विद्यार्थी भी मूल साहित्यिक रचनाओं को न पढ़कर आलोचना तथा व्याख्या को पढ़कर ही संतुष्ट हो जाता है। इस प्रकार आलोचना-साहित्य साहित्य के अध्ययन में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो सकता है। निश्चय ही यह आक्षेप उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इन आक्षेपों की विद्यमानता में भी हम आलोचना-साहित्य की महत्ता और उपादेयता को भुला नहीं सकते। यदि हम आलोचना और मूल साहित्य के सम्बन्ध को हृदयंगम कर लें तो आलोचना-साहित्य के विषय में हमारे बहुत-से आक्षेप और शंकाएँ स्वयं शान्त हो जायँगे। जीवन में हमें जो रुचिकर प्रतीत होता है, उसके सौन्दर्य से हम आकृष्ट होते हैं, और जिन आदर्शों, तथा भावनाओं से हम प्रेरित होते हैं, साहित्य में उन्हींका प्रतिरूप प्राप्त करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, और साहित्य में भी वह व्यक्तिगत आदर्शों, भावनाओं और अनुभूतियों के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। साहित्य का विषय मनुष्य का जीवन है। आलोचक का क्षेत्र भी मनुष्य-जीवन है। साहित्य में अभिव्यक्त कलाकार के महान् व्यक्तित्व की ही व्याख्या आलोचक करता है [अतः कलाकार जिस प्रकार नाटक, कविता या

उपन्यास इत्यादि साहित्य के विविध अंगों में मानव-जीवन की अभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार आलोचक साहित्य के विविध रूपों में अभिव्यक्त मानव-जीवन की व्याख्या करता है) साहित्य तथा आलोचना के क्षेत्र में अभेद है, आलोचना साहित्य का ही अभिन्न अंग है, इसी कारण इसका महत्व है। आलोचना-साहित्य की उपयोगिता इसीमें है कि वह हमारे भीतर आलोच्य साहित्य के प्रति उत्सुकता की भावना को जाग्रत रखे और उसे मूल रूप में आस्वादित करने के लिए प्रेरित करे। पाठक के हृदय में भावोद्रेक और रसोद्रेक द्वारा सुन्दर साहित्य की ओर रुचि उत्पन्न करना ही उसका मुख्य कर्तव्य है।

साहित्य की रचना शताब्दियों से होती आ रही है और उसमें महान् तथा उत्कृष्ट साहित्य की रचना निश्चय ही थोड़ी नहीं। अनेक पुष्पक शताब्दियों से लोकप्रिय है, और आगे भी लोकप्रिय रहेगी। कालिदास, तुलसीदास, गेटे, शेक्सपियर आदि कलाकारों की रचनाओं द्वारा मनुष्य शताब्दियों से आनन्द प्राप्त करता आ रहा है। ऋग्वेद तथा उपनिषदादि आध्यात्मिक साहित्य की रचना आज से शताब्दियों पूर्व हुई थी, और विगत शताब्दियों में सहस्रों मनुष्यों ने उनसे आत्मिक शान्ति प्राप्त की। आज के युग में भी मानव के उर्वर मस्तिष्क से उत्पन्न शताब्दियों के इस प्राचीन साहित्य को पढ़कर आनन्द और शान्ति प्राप्त करने की इच्छा वर्तमान है। साहित्य के महान् स्रष्टाओं और उनकी रचनाओं के विषय में जानकारी की इच्छा हमारे मन में सदा वर्तमान रहती है। परन्तु हमारी जिन्दगी बहुत छोटी है, और इस छोटी-सी जिन्दगी में हमें अनेक धन्धों में से गुजरना पड़ता है, हमारे पास समय बहुत थोड़ा है। विशेष रूप से आज के युग में मनुष्य इतना अधिक कार्य-संलग्न है कि उसे अपने चारों ओर देखने का अवसर भी प्राप्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में क्या प्राचीन और नवीन साहित्य से आनन्द प्राप्त करने की हमारी इच्छा केवल स्वप्न-मात्र रह जायगी? आलोचना-साहित्य की उपयोगिता इसीमें है कि वह हमें इस कार्य-संलग्नता में महान् कलाकारों के जीवन, उनकी रचनाओं के गुण और उनके प्रभाव से परिचित करा देता है।

कोई भी अच्छा आलोचक साधारण पाठक की अपेक्षा अधिक प्रतिभा, सूक्ष्म अन्वेषण-शक्ति से युक्त और गम्भीर तथा मननशील हो सकता है। साधारण पाठक की अपेक्षा उसका अध्ययन पर्याप्त विस्तृत और पूर्ण होता है;

इस अवस्था में वह निश्चय ही साधारण पाठक की अपेक्षा किसी भी महान् कलाकार अथवा साहित्यकार की रचनाओं का अध्ययन अधिक सूक्ष्म और विवेचनापूर्ण ढंग से कर सकता है । वह किसी भी कलाकार का तुलनात्मक अथवा इतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करता हुआ उसकी रचनाओं के विविध अंगों पर प्रकाश डालकर उसके विषय में अनेक नवीन तथ्यों को प्रकाशित करता है । अपनी विशिष्ट अन्तर्दृष्टि द्वारा वह उसकी रचनाओं में प्रविष्ट होकर उन तथ्यों का अन्वेषण करेगा जो कि उसकी रचना में स्थायित्व के साथ रागात्मकता को भी बनाए हुए हैं । ऐसी अवस्था में यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें उस व्याख्या को समझाने में सहायक होता है ।

एक बात और । हम प्रायः दूसरो द्वारा किसी पुस्तक या लेखक के विषय में दिये गए निर्णयों को बड़ी शीघ्रता से स्वीकार कर लेते हैं । विशेष रूप से तब जब कि वह आलोचक या निर्णायक विशेष प्रसिद्ध, व्यक्तित्व-सम्पन्न और प्रतिभाशाली हो । ऐसी अवस्था में हमारा स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं रहता, हम उस द्वारा दी गई दृष्टि या मापदण्ड से उस पुस्तक या कलाकार का अध्ययन करेंगे और उसीके अनुसार अपना निर्णय देगे । ऐसी अवस्था में वह निर्णायक या आलोचक हमारे स्वतन्त्र अध्ययन में सहायक न होकर बाधक ही होगा । क्योंकि हम उसी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करके बहुत-से ऐसे गुणों को प्राप्त न कर सकेगे जो कि वास्तव में उस पुस्तक में विद्यमान हैं ।

अतः हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि आलोचना मूल आलोच्य साहित्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती, और न आलोचक मूल कलाकार का ही । वास्तव में ग्रन्थकर्त्ता कलाकार और पाठक के बीच में व्याख्याकार का कार्य करता है (आलोचक का मुख्य कर्तव्य पाठक के हृदय में आलोच्य साहित्य के प्रति श्रौत्सुक्य और उत्कण्ठा को उत्पन्न करना ही है) । जिस प्रकार एक महान् कवि हमें अपने जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण का भागी बना लेता है, वैसे ही एक आलोचक को भी, अपनी साहित्य-विषयक भावनाओं में पाठक को भागी बना लेना चाहिए । उसे ठीक एक पथ-प्रदर्शक की भाँति कलाकार या साहित्य के सौन्दर्य और सत्य तक पाठक को पहुँचा देना चाहिए । अमरीकन मनीषी इमर्सन के शब्दों में आलोचक का कार्य शिक्षा देना नहीं, अपितु प्रेरित या

उत्साहित करना है ।

यदि हम आलोचना-साहित्य को सतर्कता पूर्वक पढ़ेंगे तो निश्चय ही हमें बहुत-कुछ प्राप्त होगा । आलोचक के निर्णयों पर सभी का सहमत हो सकना सम्भव नहीं, और हम भी उससे सहमत हों या न हों, परन्तु निश्चय ही हम उसकी व्याख्या के ढंग और उसके पथ-प्रदर्शन से बहुत लाभ उठा सकते हैं ।

३. आलोचक के आवश्यक गुण

आलोचक का कार्य अत्यन्त कठिन और अप्रिय होता है, संसार में बड़े-बड़े साहित्यिकों, राजनीतिज्ञों, नेताओं और क्रान्तिकारियों तथा सुधारकों के स्मारक स्थापित किये जाते हैं, परन्तु किसी समालोचक के सम्मान में कोई स्मारक निर्मित किया गया हो, ऐसा हमें ज्ञात नहीं । परन्तु समालोचक का कार्य कितना महत्वपूर्ण, आवश्यक और साथ ही कठिन तथा अप्रिय है, यह सभी स्वीकार करते हैं । इसी कारण उच्चकोटि का समालोचक ही अपने कर्तव्य को समझता हुआ इस क्षेत्र में अवतीर्ण हो सकता है । 'सत्' तथा 'असत्' साहित्य के विवेचन तथा वर्गीकरण के साथ वह साहित्य में अमुन्दर तथा सुन्दर की खोज भी करता है, और साहित्य के आनन्द के मूल में वायं करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों का अन्वेषण भी करता है । चाहे समालोचक का संसार आदर न करे, तथापि वह पथ-प्रदर्शन और सत् और असत् के विवेचन के कारण साहित्य में विशेष महत्वपूर्ण पद का अधिकारी है ।

समालोचक के गुणों की विवेचना करते हुए एक पाश्चात्य विद्वान् ने समालोचक में निम्न लिखित गुणों को आवश्यक माना है—

(१) सुनिश्चितता, (२) स्वातन्त्र्य, (३) सूक्ष्म, (४) श्रेष्ठ विचार, (५) उत्साह, (६) हार्दिक अनुभूति, (७) गम्भीरता, (८) ज्ञान, तथा (९) अथक परिश्रम ।

आलोचक की, रचनाकार तथा उसकी रचना के प्रति, श्रद्धा, सहानुभूति तथा आदर की भावना होनी चाहिए । किसी भी वैज्ञानिक की भाँति न तो उसे निर्मम ही होना होता है और न हृदय-हीन ही; क्योंकि उसका काम चीर-फाड़ नहीं । कवि या कलाकार के व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही उसकी रचनाओं में होती है । अपने व्यक्तित्व के दर्पण से ही वह जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करता है । अतः सम्पूर्ण साहित्यिक रचनाओं के मूल में कलाकार की

आत्मा विद्यमान रहती है, उसकी आत्मा तक पहुँचने के लिए आलोचक को वैज्ञानिक की चीर-फाड़ की सामग्री को न लेकर श्रद्धा तथा अनुभूति के सहारे ही चलना होता है। श्रद्धा तथा सहानुभूति के बिना वह न तो कवि की आत्मा तक ही पहुँच सकेगा, और न अपने उद्देश्य में ही सफल हो सकेगा। इसके विपरीत राग-द्वेष में पड़कर वह निश्चय ही पथ-भ्रष्ट हो जायगा।)

निष्पक्षता समालोचक का दूसरा बड़ा गुण है। व्यक्तिगत, जातिगत अथवा वर्गगत सहानुभूति के आधार पर की गई आलोचना पक्षपात-शून्य नहीं हो सकती। और पक्षपातयुक्त आलोचना कभी भी आलोचना नहीं कही जा सकती। व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित होकर की गई आलोचना को आलोचना न कहकर निन्दा ही कहा जायगा। क्योंकि द्वेष मनुष्य को अन्धा बना देता है और इसी कारण वह अपने आलोच्य कलाकार के गुणों को तो देखेगा ही नहीं और उसके दुर्गुण ही प्रदर्शित करेगा। पक्षपात अथवा राग-द्वेष से प्रेरित होकर की गई आलोचना से सत्साहित्य का बहुत अहित होता है।

विद्वत्ता आलोचक का तीसरा बड़ा गुण है। आलोचक को साहित्य की सम्पूर्ण समस्याओं का विशेषज्ञ होना चाहिए। आलोच्य-साहित्य के इतिहास तथा उसके विविध युगों की सामान्य विशेषताओं से उसका विशेष परिचय होना चाहिए। पुस्तक या कलाकार की रचना के गुण-दोष-विवेचन के लिए आवश्यक पैनी दृष्टि उसमें तभी प्राप्त हो सकती है, जब उसमें विद्वत्ता हो।

स्वाभाविक प्रतिभा के अभाव में पाण्डित्य तथा अन्य गुणों की उपस्थिति में भी आलोचक कभी भी आलोचना-क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक विद्वान् सफल समालोचक हो सके, ऐसा कभी नहीं हुआ। क्योंकि स्वाभाविक प्रतिभा की उपस्थिति में ही एक आलोचक अपने कथन, निर्णय या मत को सामर्थ्यपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है। केवल स्वाभाविक प्रतिभा पर ही वह अच्छे पण्डितों की अपेक्षा अपने कथन और निर्णय को युक्तियुक्त बना सकता है।

इन गुणों के अतिरिक्त आलोचक में सहृदयता, गुणग्राहकता तथा बुद्धिमत्ता इत्यादि गुण अवश्य होने चाहिए। इनके अतिरिक्त आलोचक की रचि अत्यन्त परिमार्जित और परिष्कृत होनी चाहिए। उसे अपने उद्देश्य का ज्ञान होना चाहिए। अपने पक्षपातहीन निर्णय को प्रकट करने के लिए उसमें साहस भी

अवश्य होना चाहिए । उसे अपने निर्णय ऐसे ढंग से देने चाहिए कि जिनसे पाठक के हृदय में लेखक के प्रति न तो घृणा ही उत्पन्न हो और न अरुचि ही । वास्तव में उसकी आलोचना में माधुर्य-गुण-शैली का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए ।

४. आलोचना के प्रकार *

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि समालोचना साहित्य का एक प्रमुख अंग है, और जिस साहित्य में आलोचना का यह अंग पूर्ण विकसित न हुआ हो वह साहित्य आज के युग में अपूर्ण और अविकसित ही समझा जायगा । आधुनिक युग में समालोचना-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है, साहित्य के विविध अंगों का सूक्ष्म विवेचन और उनके मूल्य-निर्धारण के अतिरिक्त उसके मूल में कार्य कर रही सूक्ष्म प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी आलोचना का ही कार्य है ।

आलोचना के मुख्य प्रकार निम्न लिखित हैं—

- (१) आत्म-प्रधान आलोचना (Subjective criticism)
- (२) सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative criticism)
- (३) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive criticism)
- (४) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism)
- (५) तुलनात्मक आलोचना (Comparative criticism) †
- (६) मनोविज्ञानिक आलोचना (Psychological criticism)

समालोचना के इन प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार भी हैं जिनका कि हिन्दी-साहित्य और विश्व की अन्य भाषाओं में पर्याप्त प्रचलन है । यहाँ सर्वप्रथम हम आलोचना के इन प्रमुख भेदों पर विचार करेंगे; तदनन्तर अन्य प्रकारों का भी परिचय दे दिया जायगा ।

१. आत्म-प्रधान आलोचना (Subjective criticism) भावपूर्ण होती है, और आलोचक के हृदयोत्प्लास को व्यक्त करती है । कवि या कलाकार की रचना का जैसा प्रभाव आलोचक के हृदय पर पड़ता है, वह वैसा ही व्यक्त करता है । इस प्रकार की आलोचना में आलोचक किसी विशिष्ट विवेचना-पद्धति को नहीं अपनाता, अपितु अपनी रुचि और आदर्श के अनुरूप ही आलोच्य ग्रन्थ की आलोचना करके अपना निर्णय देता है । आलोचक की रुचि की प्रमखता के कारण इस प्रकार की समालोचना में भावनाओं की समानता रचनी

है, और इसी कारण वह प्रायः रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत ग्रहीत की जाती है। अनेक प्रसिद्ध विद्वान् आत्म-प्रधान आलोचना को विशेष उपादेय नहीं समझते, क्योंकि उनका कथन है कि इन आलोचनाओं से आलोच्य विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता।

परन्तु कुछ विद्वान् उपर्युक्त मत के विपरीत आत्म-प्रधान आलोचना के पक्ष में हैं, उनका कथन है कि पुस्तक या कलाकार की कृति की अच्छाई या बुराई का व्यक्तिगत रुचि के अतिरिक्त और कौन-सा सुन्दर मापदण्ड हो सकता है। साहित्य में, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को भावनाओं के प्रसार के फलस्वरूप, आत्म-प्रधान आलोचना को पर्याप्त प्रमुखता प्रदान की जा रही है, क्योंकि अनेक प्रमुख आलोचक आलोचना में किसी भी अन्य शास्त्रीय मापदण्ड को महत्त्व प्रदान न करके और उसे पुस्तक या कलाकार की कृति की परीक्षा का उपयुक्त मापदण्ड न समझकर अपनी रुचि को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं।

२. सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative criticism) में आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तों को निश्चित किया जाता है, और काव्य या साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि के रूप का विश्लेषण करके उनके लक्षण "निर्धारित किये जाते हैं। साहित्यिक आलोचना में किन सिद्धान्तों और नियमों का अनुसरण किया जाना चाहिए, कवि या कलाकार की कृति की परीक्षा करते हुए आलोचक को किन सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, नाटक, उपन्यास अथवा कथा की विवेचना में कौन-कौन-से तत्त्व अपेक्षित हैं, इत्यादि प्रश्नों पर सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही विचार किया जाता है)। इन नियमों या सिद्धान्तों के प्रतिपादन में आलोचक अपनी रुचि को अधिक महत्त्व प्रदान नहीं कर सकता, उसे प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकाश में या तो नवीन सिद्धान्तों की अथवा नियमों की व्यवस्था देनी होती है अथवा आलोचना-शास्त्र के नियमों का सर्वथा नवीन प्रतिपादन करना होता है। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र पर किया गया सम्पूर्ण विवेचन सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही ग्रहीत किया जाता है। 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' तथा 'रस गंगाधर' इत्यादि संस्कृत के ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ ही कहे जायेंगे। हिन्दी में डॉ० श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', डॉ० सूर्यकान्त की 'साहित्य-मीमांसा', सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद', रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' तथा

‘काव्य-दर्पण’ तथा आचार्य शुक्ल का ‘चिन्तामणि’ एवं बाबू गुलाबराय का ‘सिद्धान्त और अध्ययन’ तथा ‘काव्य के रूप’ इत्यादि पुस्तकें सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही ग्रहीत की जाती हैं ।

३. व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive criticism) में आलोचक सब प्रकार के सिद्धान्तों या आदर्शों का त्याग करके कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयता पूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या तथा विवेचना करता है । व्याख्या या विश्लेषण इसकी सर्व प्रमुख विशेषता है । वर्तमान युग में आलोचना का यही प्रकार सर्वश्रेष्ठ बतलाया जाता है । व्याख्यात्मक आलोचना का विशद विवेचन मौल्टन (Moulton) ने किया है । और उसीके विवेचन के अनुसार हम व्याख्यात्मक आलोचना की विशेषताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(क) सर्व-प्रथम आलोचना के इस प्रकार को अपनाते हुए आलोचक को एक अन्वेषक के रूप में ही कार्य करना होता है, न्यायाधीश की भाँति नहीं । कलाकार की रचना का सूक्ष्म विवेचन करते हुए आलोचक को उसकी विशिष्ट कृति अथवा रचना का सर्वप्रथम उद्देश्य जानना चाहिए । विषय-निरूपण की पद्धति, उसके कथन का ढग, कवि के आदर्श तथा प्रेरणा इत्यादि सभी तत्त्वों पर अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक विवेचन करना चाहिए ।

(ख) मौल्टन के अनुसार व्याख्यात्मक आलोचना को साहित्य का अंग न मानकर विज्ञान का अंग समझना चाहिए, और आलोचक को सीधे-सादे शब्दों में साहित्यिक रचना की व्याख्या करनी चाहिए, उसे रचना के गुण अथवा दोष से कोई मतलब नहीं होना चाहिए ।

(ग) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) जहाँ रचना के गुण-दोषों का विवेचन करती है, वहाँ व्याख्यात्मक आलोचना में इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता । एक वैज्ञानिक की भाँति आलोचक केवल प्रकार-भेद को स्वीकार करता है, और वर्ग-भेद को भी मानता है, परन्तु उसमें ऊँच-नीच को स्थान नहीं देता । विभिन्न कलाकारों की तुलना की जा सकती है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उनका स्थान निर्धारित नहीं किया जा सकता ।

(घ) निर्णयात्मक आलोचना में जिस प्रकार साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है, और उन्हें राजकीय या नैतिक नियमों के समान

माना जाता है, तथा उन्हीं नियमों के अनुसार कलाकार की रचनाओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है, परन्तु व्याख्यात्मक आलोचक को ऐसा स्वीकार्य नहीं। वह इन नियमों को किसी द्वारा आरोपित न मानकर कलाकार द्वारा रचित ही मानता है, क्योंकि साहित्यिक नियमों या लक्षणों का विधान कलाकार की रचना के आधार पर ही किया जाता है, अतः यह नियम कवियों की विभिन्न प्रवृत्तियों द्वारा ही रचे गए हैं; कवि या कलाकार ही इन नियमों का स्रष्टा है। यदि ये नियम उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते तो वह इन नियमों को भंग करके नवीन नियमों की सर्जना कर सकता है। व्याख्यात्मक आलोचना में यह स्वीकार किया जाता है कि सभी कवि एक ही प्रकृति के नहीं होते, सबकी प्रकृति भिन्न होती है, अतः सभी कवियों को एक ही नियम या मापदण्ड से नापना, सर्वथा गलत, भ्रामक तथा असंगत है।

(ङ) इस प्रकार व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर्गत साहित्यिक रचनाओं की परीक्षा निर्जीव नियमों द्वारा नहीं की जाती। साहित्य की प्रकृति के अन्य रूपों की भाँति निरन्तर विकासशील मानकर आलोचक एक विज्ञानिक की भाँति उसकी व्याख्या करता है।

(च) आलोचक को यह नहीं कहना होता कि यह रचना मुझे कैसी प्रतीत हुई है, अपितु व्यक्तिगत अभिरुचि का परित्याग करके आलोचक को यही सिद्ध करना होता है कि कलाकार या कवि ने इसमें क्या अभिव्यक्त किया है, उसका उद्देश्य क्या है? आलोचक को वास्तव में एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति कार्य करना होता है। व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक केवल-मात्र व्याख्याता न रहकर स्रष्टा बन जाता है, और अपनी सहृदयता का पूर्ण परिचय देता है।

४. निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) को शास्त्रीय आलोचना भी कहा जाता है, क्योंकि आलोचक साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न शास्त्रीय या सैद्धान्तिक नियमों का आश्रय ग्रहण करके और आलोच्य पुस्तक के गुण-दोष-विवेचन करके उसका साहित्यिक दृष्टि से मूल्य निर्धारित करता है। आलोचक का दृष्टिकोण न्यायाधीश-जैसा होता है और वह एक निश्चित माप-दण्ड के अनुसार कलाकार की रचना पर अपना निर्णय देता है। उसके आधार साहित्य-शास्त्र के निर्धारित नियम ही होते हैं। कलाकार की मौलिकता या

प्रतिभा पर ध्यान न देकर आलोचक उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू करके उसकी रचना की परीक्षा करता है । परन्तु कुछ आलोचक अपने निर्णय को शास्त्रीय नियमों पर आधारित न करके कलाकार की रचना का अपने पर पड़े प्रभाव के अनुसार ही निर्णय देते हैं । ऐसे आलोचक शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा अपनी भावानुभूति को ही अधिक महत्त्व देते हैं । निर्णायक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग शास्त्रीय नियमों की पूर्ण जानकारी रखता हुआ भी अपने निर्णय को शास्त्रीय नियमों के ऊपर रखता है । ऐसे आलोचक नियमों का ध्यान रखते हुए भी कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्ण अनुभव करके अपना निर्णय देते हैं, इसी कारण ये आलोचक सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं । केवल शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही रचना का गुण-दोष-विवेचन करने वाले आलोचक साहित्यिक जगत् में आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते ।

हमारे यहाँ सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थों की कमी नहीं । मम्मट, आचार्य विश्वनाथ इत्यादि के ग्रन्थों में काव्य-सम्बन्धी गुण-दोषों का बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है, और उन्हींके आधार पर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य कवियों ने भी इस विषय पर पर्याप्त विवेचन किया है । बहुत काल तक इन नियमों के अनुकरण पर ही कविता होती रही, और इन्हींके अनुसार विभिन्न काव्यों का गुण-दोष-विवेचन किया जाता रहा । ऐसे समय में स्वतन्त्र प्रतिभा और काव्य-शैली का विकास असम्भव हो जाता है ।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रबन्धुओं की आलोचना शास्त्रीय नियमों पर आधारित निर्णायक होती है । आज भी कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इसी प्रकार आलोचना की जाती है । अग्रगतिशील नियमों के आधार पर अधिष्ठित होने के कारण वास्तविक साहित्य की अभिवृद्धि में आलोचना का यह प्रकार घातक ही सिद्ध होता है ।

५. तुलनात्मक आलोचना (Comparative criticism) में आलोचनात्मक दो विभिन्न कवियों की एक ही विषय की रचनाओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करता है । आलोचक अपने विषय के प्रतिपादन के लिए दोनों कलाकारों की रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करके उनके विविध अंगों पर प्रकाश डालता है । मूल्य या स्थान-निर्धारण की भावना इसमें विद्यमान रहती है, अतः रुचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात के परिणाम-

स्वरूप किसी भी कवि से अन्याय किया जा सकता है। जहाँ कहीं केवल तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना हो और किसी भी निर्णय पर न पहुँचना चाहो, या किसी को छोटा या बड़ा सिद्ध न करके एक विशिष्ट तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का ही अनुसरण करना हो तो वहाँ यह प्रणाली उपयुक्त सिद्ध हो सकती है, अन्यथा कटु विवाद ही इसका अन्तिम परिणाम होता है। हिन्दी में बिहारी तथा देव पर किस प्रकार वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ, और किस प्रकार बिहारी के भक्तों ने बिहारी को और देव के भक्तों ने देव को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया, यह सर्वविदित है। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए तुलनात्मक दृष्टि तो अवश्य अपनाई परन्तु अन्य कवियों के साथ शर्मा जी ने सरासर अन्याय ही किया। इसी प्रकार पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए तुलनात्मक दृष्टि से छन्दों तथा अलंकारों इत्यादि का सूक्ष्म विश्लेषण करके शास्त्रीय पद्धति को ही अधिक प्रश्रय प्रदान किया।

साधारणतया तुलनात्मक दृष्टि आलोचना में तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब कि वह पूर्ण वैज्ञानिक हो और आलोचक अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति से समीक्षा करे। आलोचना के क्षेत्र में वैज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि आवश्यक है।

६. मनोविज्ञानिक आलोचना (Psychological criticism) कवि या कलाकार के अन्तरतम का अन्वेषण करती है, काव्य के मूल में स्थित भावों, आदर्शों और उद्देश्यों की समीक्षा करती है और उनके कारण को चित्त की अन्तः प्रवृत्तियों में खोजने का प्रयत्न करती है। बाह्य परिस्थितियों की आन्तरिक भावनाओं पर होने वाली प्रतिक्रिया का विश्लेषण भी मनोविज्ञानिक आलोचना का ही काम है। कवि या कलाकार की रचनाओं के इस प्रकार की आलोचना में वैयक्तिक स्वभाव तथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं के प्रकाश में देखा जाता है। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना का प्रचलन हाल ही में हुआ है।)

समालोचना के उपर्युक्त विविध प्रकारों के अतिरिक्त इतिहासिक समालोचना भी विशेष प्रसिद्ध है, वस्तुतः इतिहासिक समालोचना के बिना उपर्युक्त समालोचना-पद्धतियाँ अपूर्ण हैं। क्योंकि यदि मनोविज्ञानिक आलोचना साहित्यकार की आन्तरिक अनुभूतियों में पैठकर उसे विभिन्न परिस्थितियों की प्रतिक्रिया

मानती है तो इतिहासिक आलोचना उस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के अन्वेषण का कार्य करती है । मनोविज्ञानिक आलोचना का क्षेत्र अन्तर्जगत् है तो इतिहासिक समालोचना का क्षेत्र अन्तर्जगत् को प्रभावित करने वाला बाह्य जगत् । प्रत्येक युग का साहित्य अपनी विशिष्ट विचार-धारा और सामाजिक परिस्थिति से पुष्ट और समृद्ध होता है । जिस प्रकार मानव-सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास उसके निरन्तर संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार साहित्य भी निरन्तर विकासशील मनुष्य की अन्तःप्रवृत्तियों का इतिहास है, वह युग विशेष की भावनाओं तथा धारणाओं से प्रभावित होता है । अतः साहित्य की विवेचना करते समय युग की परिस्थितियों, अन्तःप्रवृत्तियों और चिन्तन-धाराओं का विचार रखना चाहिए । इतिहासिक समालोचना के अन्तर्गत इन्हीं परिवर्तित होती हुई विचार-धाराओं और परिस्थितियों के प्रकाश में ही साहित्य की समालोचना की जाती है । कलाकार की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास को जानने के लिए उसको प्रभावित करने वाली बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है । केवल शब्द-विन्यास, वाग्-वैदग्ध्य उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार-विधान अथवा छन्द, अलंकार आदि के बंधे-बंधाए नियमों के अनुसार साहित्य पर इतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत विचार ही किया जाता । इतिहासिक समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया जाता है । किसी भी विशिष्ट कवि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय पूर्ववर्ती परवर्ती तथा समकालीन कवियों की राजनीतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया जाता है । इस प्रकार इतिहासिक समालोचना के अन्तर्गत कवि या साहित्यकार पर तत्कालीन समाज, संस्कृति, वातावरण और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के अतिरिक्त विशिष्ट चिन्तन-पद्धति के प्रभाव को भी प्रांका जाता है ।

‘कला कला के लिए’ के सिद्धान्त के अनुयायी आलोचक साहित्य की समालोचना और उसके श्रेष्ठत्व की समीक्षा सौन्दर्य-तत्त्व के अनुसार करते हैं । व्यावहारिक, एवं नैतिक अथवा किसी अन्य प्रकार से की गई आलोचना के वे अनुचित समझते हैं, क्योंकि उनका विचार है कि कला विज्ञानिक, व्यावहारिक एवं नैतिक जगत् से सर्वथा स्वतन्त्र है ।^१ इनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति है

1. Art is independent both of science and of the useful and the moral.

उत्पन्न होने वाला आनुषंगिक आनन्द ही काव्य की कसौटी है । समालोचना का उद्देश्य भी रसोद्रेक ही समझा जाता है । आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde) ने आलोचना के इस प्रकार का विशेष समर्थन किया था । यूरोप में बहुत समय तक 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त के अनुगामी आलोचकों का बोल-बाला रहा है । किन्तु आज इस सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध हो चुका है । आज जीवन तथा साहित्य की घनिष्ठता सभीको स्वीकार है ।

मार्क्स के दर्शन तथा विचार-धारा पर आधारित आलोचना का भी साहित्य में विशिष्ट स्थान है । आलोचना के इस नूतन प्रकार के पीछे मार्क्सवाद का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic conception of history) है, समाज की भाँति साहित्य को भी निरन्तर विकासशील मानकर मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की निरन्तर परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुसार व्याख्या करते हैं । युग-विशेष की परिस्थितियों के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा साहित्य की समालोचना करना आलोचकों के इस वर्ग की प्रमुख विशेषता है ।

इतिहासिक समालोचना के विपरीत समाजवादी आलोचना के अन्तर्गत वर्ग संघर्ष के आदर्शों और विचार-धाराओं को प्रमुखता दी जाती है, और उन्हीं के अनुसार साहित्य का मूल्य निर्धारित किया जाता है । साहित्य के प्राचीन मापदण्ड कला और काव्य के प्राचीन आदर्श तथा प्राचीन साहित्य की प्रगतिवादी आलोचना एकांगी है, क्योंकि वर्ग-संघर्ष की भावना की प्रधानता के कारण साहित्य में प्रकट जीवन की अन्य अनुभूतियों और भावनाओं को तुच्छ और नगण्य बना दिया जाता है ।

साहित्य तथा समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है । साहित्यकार व्यक्ति रूप में समष्टि का अभिन्न अंग है । अतः साहित्यिक अनुशीलन में सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है । मार्क्सवादी जीवन-दर्शन ने हमारे सम्मुख जीवन तथा मानव-समाज की सार्वत्रिक व्याख्या प्रस्तुत की है यह इसकी एक प्रमुख देन है । परन्तु मार्क्सवादी व्याख्या एकांगी और अपूर्ण है । जीवन वस्तुतः बहुत जटिल (Complicated) है । मानव-मनोवृत्तियों और उसके विभिन्न रूपों की जिस प्रकार कल्पना की जाती है, वह प्रायः अत्यन्त सीधी और सरल होती है । मार्क्सवादी दर्शन इस दोष से मुक्त नहीं । उसने मानव-समाज की एक

बहुत सीधी, सरल और निर्णयात्मक (Deterministic) व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। भौतिक-विज्ञान के ढंग पर मार्क्स ने जीवन और समाज की व्याख्या करते हुए केवल एक तत्त्व को ही परम तत्त्व माना है। सामाजिक जीवन की जटिलता (Complexity) हमें स्वीकार करनी होगी और सामाजिक जीवन की व्याख्या में आर्थिक तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक, बौद्धिक और भावात्मक तत्त्वों की सत्ता को भी मुख्य स्थान देना होगा, गौण नहीं।

समाज केवल अर्थतन्त्र नहीं, और साहित्य केवल इस अर्थतन्त्र का प्रतिबिम्ब नहीं। मार्क्सवादी दर्शन व्यक्ति को स्वयं विकसित होते हुए यन्त्र-व्यवस्था (Technology) और उससे उत्पन्न अर्थ-तन्त्र के अधीन बना देता है। वस्तुतः दर्शन में (तथा जीवन में भी) हीगेल के ब्रह्म (Absolute) का जो स्थान है—जिस प्रकार वह स्वयं प्रकाशित और स्वयं विकसित होता है—मार्क्स की भौतिकवादी इतिहास की व्याख्या में भी यन्त्र-समूह और अर्थ-तन्त्र का वही स्थान है—वह स्वयंचालित है और स्वयंप्रकाशित है। व्यक्ति, उसकी भावनाओं और प्रवृत्तियों का उसमें कोई स्थान नहीं। परन्तु यह धारणा मिथ्या है, जैसा कि रसेल (Russel) ने अपनी पुस्तक पावर (Power) तथा प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रीकंस्ट्रक्शन (Principles of social Reconstruction) में बतलाया है कि न तो यन्त्र-संस्कृति और उससे उत्पन्न अर्थ-तन्त्र को ही इतिहास में निर्णयात्मक (Deterministic) स्थान दिया जा सकता है, और न व्यक्ति और उसकी विभिन्न मनोवृत्तियों को उसका दास बनाया जा सकता है। वह अर्थ-प्राप्ति की इच्छा को मनुष्य की सत्ता-प्राप्ति की इच्छा के अधीन मान कर मानव-इतिहास की व्याख्या करता है।

यहाँ मुख्य प्रश्न मनोविज्ञानिक हो गया है और जहाँ तक व्यक्ति की मूल-भूत प्रवृत्तियों का प्रश्न है वहाँ मार्क्सवादी दर्शन भी एकांगी ही समझना चाहिए। मानव-प्रवृत्तियों की व्याख्या में मतैक्य की सम्भावना नहीं। हम पीछे लिख आए हैं कि किस प्रकार जीवन की मूलभूत प्रवृत्तियों की भिन्न और परस्पर-विरोधी व्याख्या की गई है। मनुष्य की ऐक्यान्वेषी प्रवृत्ति इस अजस्र वैचित्र्य-सम्पन्न जीवन में—वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों में ही—ऐक्य का अन्वेषण करती हुई अन्तः विरोध पर पहुँचती है। प्रवृत्तियाँ अनेक हैं, एक

नहीं, और उनके सामाजिक तथा मनोविज्ञानिक दोनों ही पक्ष हैं ।

साहित्यिक क्षेत्र में जब मार्क्सवादी आलोचक साहित्य और साहित्यकार को अर्थतन्त्र का दास मानकर उसकी व्याख्या केवल-मात्र भौतिक और आर्थिक आधार पर करते हैं तो उसकी अलोचना का एकांगी हो जाना अनिवार्य है । जिस प्रकार मानव-समाज केवल वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं, जिस प्रकार मनुष्य केवल अर्थ-प्राप्ति की इच्छा से ही अनुप्राणित नहीं होता, उसी प्रकार साहित्य केवल वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति नहीं, और न ही किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधि साहित्यकार व्यक्ति के रूप में केवल अर्थतन्त्र की उपज नहीं हो सकता ।

मनुष्य मुख्य रूप में एक सामाजिक प्राणी है । सामाजिक जीवन साहित्यकार के व्यक्तित्व में ओत-प्रोत रहता है, परन्तु वह सामाजिक जीवन केवल अर्थतन्त्र की देन नहीं वह वैविध्य-सम्पन्न है । अतः साहित्यिक अध्ययन और साहित्यिक आलोचना में जीवन को उसके विशाल रूप में देखना युक्ति-संगत है, एकाङ्गी रूप में नहीं । प्रगतिवादी आलोचना का यही बड़ा दोष है कि वह ऐसे दर्शन पर आधारित है जो कि जीवन और समाज की एकाङ्गी व्याख्या करता है । यही कारण है कि वह साहित्य की आलोचना में भी समग्र (Whole) को ग्रहण न करके केवल-मात्र अंश (Parts) को ग्रहण करती है ।

इंग्लैंड का क्रिस्टाफर काडवेल, स्टिफेन तथा स्पेण्डर और अमरीका के जोसिफ फ्रिमेन तथा ग्रैनमिलहिकस और भारत में डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० मुत्कराज 'आनन्द' तथा शिवदानसिंह चौहान आदि इसी श्रेणी के आलोचक हैं ।

ऊपर हमने समालोचना के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है, उनकी विभिन्न साहित्यिक विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए उनकी उपादेयता पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डाल दिया गया है । परन्तु आज अधिकांश समालोचक मिली-जुली ढंग की समालोचना ही लिखते हैं, उनकी समालोचना-पद्धति के अनुसार वर्तमान काल की समालोचना के मुख्य तत्त्वों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

१. समालोचना में इतिहासिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के समय की राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है । (ख) काव्य के समय में प्रचलित विभिन्न आदर्शों

तथा उद्देश्यों की समीक्षा।

२. समालोचना में मनोविज्ञानिक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि या कलाकार के जीवन, उसकी पारिवारिक परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ उसकी मानसिक स्थितियों का तादात्म्य बैठाया जाता है। (ख) कवि के काव्य की उसकी विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार व्याख्या की जाती है।

३. समालोचना में व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण, जिसके अन्तर्गत (क) कवि के काव्य का अध्ययन किया जाता है, विषय, भाषा, शैली, रस-परिपाक तथा मूर्ति-मत्ता इत्यादि के अनुसार साहित्य की विज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया जाता है : (ख) आलोच्य रचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है।

४. समालोचना में तुलनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जाता है। (क) देश तथा काल की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आलोच्य कवि या कलाकार की पूर्ववर्ती और सामयिक कवियों के साथ तुलना करके उसका साहित्य में स्थान निर्धारित किया जाता है।

आलोचना के क्षेत्र के विस्तार के कारण आज का आलोचक सन्तुलित आलोचना प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह उपर्युक्त सम्पूर्ण तत्त्वों को ग्रहण करता हुआ भी अपनी रुचि की विशिष्टता के कारण किसी एक तत्त्व को अपनी आलोचना में अधिक महत्त्व दे देता है।

५. समालोचना का उद्देश्य

समालोचना की उपादेयता पर हम अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। समालोचना का उद्देश्य क्या है ? यहाँ इस विषय पर भी कुछ-न-कुछ विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि समालोचना के उद्देश्य के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। नीतिवादियों का कथन है कि समालोचक का कार्य सत् और असत् साहित्य का विश्लेषण करना है, और समालोचना का मुख्य उद्देश्य गन्दे और कुरूपपूर्ण साहित्य की अभिवृद्धि को रोकना है। समालोचक को यह देखना चाहिए कि साहित्य या काव्य की कौन-सी रचना समाज के लिए अधिक मूल्यवान है, और कौन-सी अधिक अहितकर। परन्तु 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त के अनुगामी साहित्य के इस प्रकार के विश्लेषण को न केवल अनावश्यक समझते हैं, अपितु साहित्य के लिए अहितकर भी मानते हैं। काव्य में नैतिकता के प्रश्न पर हम पीछे लिख चुके हैं, साहित्य में निश्चय ही नैतिकता

का बहिष्कार नहीं किया जा सकता, समाज के नैतिक आदर्शों के अनुसार यदि साहित्य की समालोचना या समीक्षा की जाती है तो वह बुरी नहीं । परन्तु समालोचक केवल नैतिकतावादी नहीं हो सकता, उसे साहित्य में स्थापित सुन्दर तथा असुन्दर की विवेचना भी करनी होती है । साहित्यिक रचना के विषय में उसे अपने मत की स्थापना भी परोक्ष या अपरोक्ष रूप से करनी होती है । इस प्रकार समालोचना के मुख्य उद्देश्य को संक्षेप से निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

१. समालोचक को साहित्य की व्याख्या के साथ उसमें सुन्दर तथा असुन्दर की विवेचना करनी होती है, अर्थात् साहित्य का कलात्मक दृष्टि से मूल्य निर्धारित करना होता है ।

२. समाज के लिए आलोच्य साहित्य की उपादेयता पर भी विचार किया जाता है ।

३. समालोचना का उद्देश्य एक ऐसे मापदण्ड के अनुसार साहित्य की विवेचना करना है, जिससे कि कुरुचिपूर्ण साहित्य की अभिवृद्धि रुक सके ।

६. भारतीय आलोचना-साहित्य

भारतीय आलोचना-साहित्य का विकास लगभग एक हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो चुका था, साहित्य के अत्यन्त सूक्ष्म और गहन तत्त्वों पर जितनी विद्वत्ता के साथ भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने विचार किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । रस, ध्वनि तथा शैली-सम्बन्धी जो सिद्धान्त आज यूरोप में विकसित हो रहे हैं, शताब्दियों पूर्व उनका भारत में पूर्ण विवेचन हो चुका था । चित्त की सूक्ष्म वृत्तियों की विवेचना करके उनका काव्य से मनोविज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करने में भारतीय आचार्यों ने अदभुत क्षमता प्रदर्शित की है । भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादर्श), मम्मट (काव्य-प्रकाश), आनन्द वर्धन (ध्वन्यालोक), विश्वनाथ (साहित्य-दर्पण), राजशेखर (काव्य-मीमांसा), तथा पण्डितराज जगन्नाथ (रस गंगाधर) इत्यादि अनेक आचार्य संस्कृत के उत्कृष्ट समालोचक हैं, और इन्होंने साहित्य-शास्त्र के विविध अंगों पर विद्वत्तापूर्ण विचार किया है, वास्तव में संस्कृत का साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी साहित्य बहुत विस्तृत और समृद्ध है । परन्तु खेद है कि आज उसका समुचित उपयोग नहीं हो रहा ।

७. हिन्दी का आलोचना-साहित्य

यद्यपि हिन्दी-साहित्य पर्याप्त प्राचीन है, किन्तु हिन्दी का समालोचना-साहित्य आधुनिक युग की देन है। प्राचीन संस्कृत-आचार्यों के अनुकरण पर रीति काल में काव्य के विविध अंगों पर विवेचन करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु उस प्रयत्न में न तो मौलिकता ही थी, और न प्रतिभा ही। अधिकतर आलोचक कवि थे, अतः आलोचना कविता-मिश्रित थी। इसी कारण साहित्य के विभिन्न अंगों का विवेचन न हो सका। कवि नायक-नायिका-भेद अथवा अलंकार और पिगल समझाने के लिए कविता लिखते थे, यद्यपि उनकी कविता अवश्य ही मधुर और सरस है, किन्तु उनसे काव्य के विभिन्न अंगों का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मतिराम का 'ललित ललाम', केशव की 'काव्य-चन्द्रिका' तथा 'रसिक प्रिया', पद्माकर का 'पद्माभरण' और दास का 'छन्दार्णव पिगल' इत्यादि ऐसे ही आलोचना-मिश्रित काव्य-ग्रन्थ हैं।

(हिन्दी के समालोचना-साहित्य का प्रारम्भ वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही माना जाता है। भारतेन्दु रसिक और काव्य-प्रेमी व्यक्ति थे, उनमें आलोचक के लिए आवश्यक सहृदयता और निरीक्षण-शक्ति का अभाव नहीं था। 'कवि-वचन-सुधा' और अन्य पत्रिकाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी में आधुनिक समालोचना-साहित्य की नींव रखी।

हिन्दी-आलोचना-साहित्य का समुचित विकास तो आचार्य पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी से ही प्रारम्भ होता है, स्वयं द्विवेदी जी अपने समय के अच्छे आलोचकों में गिने जाते थे, उनकी आलोचनाएँ अधिकतर निर्णयात्मक होती थी और उनमें प्राचीन शास्त्रीय पद्धति पर गुण-दोष-विवेचन की प्रधानता रहती थी। द्विवेदी जी मूलतः सुधारक थे, आलोचना-साहित्य में भी उनका यही रूप प्रतिबिम्बित हुआ है। निश्चय ही द्विवेदी जी की आलोचनाएँ भाषा-परिमार्जन में अधिक सहायक हुई हैं। मिश्रबन्धु द्विवेदी-काल के दूसरे प्रमुख आलोचक हैं। 'हिन्दी नवरत्न' में उन्होंने हिन्दी के नौ प्रमुख कवियों की कविता के गुण-दोष-विवेचन करके उनका हिन्दी-साहित्य में स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। नवीन काव्य-धारा के प्रति मिश्रबन्धुओं का दृष्टिकोण पर्याप्त सहानुभूतिपूर्ण रहा है। तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में पं० पद्मसिंह शर्मा और कृष्ण-बिहारी मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शर्माजी की समीक्षा-सम्बन्धी

दृष्टि पर्याप्त पैनी थी, यद्यपि उन्होंने अपनी समीक्षा का आधार बिहारी-जैसे शृङ्गारी कवि को बनाया है, किन्तु शृङ्गारिकता से उनका सम्बन्ध नहीं था। काव्यगत शब्द तथा अर्थ के सौन्दर्य को उद्घाटित करने की जैसी क्षमता शर्माजी में थी, वैसी हिन्दी के किसी और समालोचक में नहीं। शर्माजी की भाषा बहुत मार्मिक और स्वाभाविक है। उनकी आलोचनाओं में उनका व्यस्तित्व स्पष्ट झलकता है।

शर्माजी के विपरीत पं० कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना-शैली पर्याप्त संगत और सुष्ठु है। देव की उत्कृष्टता को सिद्ध करते हुए भी उन्होंने बिहारी की महत्ता को स्वीकार करके अपनी सहृदयता तथा काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है। प्राचीन परिपाटी के आलोचकों में लाला भगवानदीन भी विशेष उल्लेखनीय हैं, केशव तथा बिहारी-विषयक उनके समीक्षात्मक लेख विशेष संग्रहणीय हैं। इन प्राचीन परिपाटी के आलोचकों में कटुता की मात्रा अधिक रही है, और उन्होंने प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही काव्य-समीक्षा का प्रयत्न किया है। फिर भी हिन्दी-आलोचना-साहित्य के प्रारम्भिक युग में इन आलोचकों का नियन्त्रण पर्याप्त शुभ रहा।

व्याख्यात्मक आलोचना लिखने में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल विशेष सिद्धहस्त हैं। उन्हींके आविर्भाव के साथ हिन्दी-आलोचना-साहित्य में नवयुग का प्रारम्भ होता है। प्राचीन भारतीय रस-समीक्षा-पद्धति को अपनाकर और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का भारतीयकरण करके शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना-साहित्य का पुनः संगठन किया। प्राचीन रस तथा अलंकार-सम्बन्धी सिद्धान्तों की उन्होंने अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या की, और भावी हिन्दी समालोचना-पद्धति को भी उसी पर आधारित करने के लिए प्रेरित किया। अपने आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों का शुक्लजी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा जायसी, तुलसी और सूर आदि की आलोचनाओं में बहुत सफल प्रयोग किया है। हिन्दी के उत्कृष्टतम कवियों—सूर तथा तुलसी आदि—पर लिखी हुई आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक आलोचनाएँ पाण्डित्यपूर्ण और अभूतपूर्व हैं। काव्य के अन्तरतम में पैठकर उसका रसास्वादन करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। रचना-कार के व्यक्तित्व, उसकी मनःस्थिति और सामाजिक परिस्थितियों के विश्लेषण की परिपाटी का प्रारम्भ करके शुक्लजी ने सर्वप्रथम काव्य तथा कविता को

समाज के सम्पर्क में आने का प्रयत्न किया । शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वाङ्गीणता । उनकी समीक्षाओं में आलोचना-शास्त्र के सभी अंगों का समान रूप से विकास हुआ है । किन्तु शुक्लजी अपने समय की प्रगतिशील राजनीतिक परिस्थितियों से दूर थे, फलस्वरूप वह समाज की नवीन प्रवृत्तियों से तादात्म्य स्थापित न कर सके । नवयुग की काव्य-धारा भी इसी कारण उनकी सहानुभूति से वंचित रही । नवयुवक कवियों के सम्बन्ध में उनके द्वारा की गई आलोचनाओं में आवश्यकता से अधिक कड़वाहट आ गई है फिर भी उनकी-सी गम्भीरता और काव्य-मर्मज्ञता हिन्दी के अन्य आलोचकों में अप्राप्य है ।

इतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में बा० श्यामसुन्दरदास ने विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की है । 'साहित्यालोचन' में उन्होंने साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का बहुत पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है । यह हिन्दी में साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी अपने ढंग का सर्वप्रथम ग्रन्थ है । बाबूजी सदा ही भगड़ों से बचकर चले हैं । इसी कारण इनकी आलोचनाओं में कटुता नहीं । हिन्दी की नवीन काव्य-धारा को भी आपकी सहानुभूति बराबर प्राप्त रही है । 'नाट्य-शास्त्र' पर आपका 'रूपक रहस्य' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध और उपादेय है । श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अध्ययनशील आलोचक हैं, उनका दृष्टिकोण पर्याप्त विस्तृत और सुलभा हुआ है । नवीन आलोचनादर्शों को ग्रहण करके बख्शीजी ने 'विश्व-साहित्य' के रूप में एक अच्छा विवेचनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था । 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' में बख्शीजी ने नवीन दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य की समीक्षा की है । इतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और उनका शिष्य-वर्ग भी पर्याप्त प्रयत्नशील है । पं० कृष्णशंकर शुक्ल, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ने हिन्दी-साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास उपस्थित करके इस विषय में सराहनीय कार्य किया है । डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थवाल ने निर्गुण-काव्य पर इतिहासिक और खोजपूर्ण विवेचन किया है ।

श्री बा० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धति का समन्वयात्मक मार्ग अपनाकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने हिन्दी के आलोचना-साहित्य को जो देन दी है, वह विशेष महत्त्वपूर्ण है । यद्यपि उन्होंने बहुत कम लिखा है, तथापि जो भी लिखा है वह एक नई दिशा का द्योतक है । सूर-

काव्य के सम्बन्ध में उनकी आलोचना काव्य के औचित्य की दृष्टि से बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। उनके 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', महाकवि सूरदास तथा 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' नामक आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाश में आए हैं, जिनमें उनके फुटकर आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। 'जयशंकरप्रसाद' में उन्होंने प्रसादजी के साहित्य और प्रतिभा का विश्लेषण किया है।

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के नये अनुभूतिपूर्ण आलोचक हैं। शान्तिनिकेतन के कलामय वातावरण में रहने के कारण और संस्कृत-साहित्य के विस्तृत अध्ययन के फलस्वरूप आपका दृष्टिकोण एकदम शास्त्रीय हो गया है। किन्तु नवीन आदर्शों और विचारों की समन्विति में आप सदा प्रगतिशील रहते हैं। हिन्दी की नवीन काव्य-धाराओं की द्विवेदीजी ने बहुत सुलभी हुई और सहानुभूतिपूर्ण आलोचना की है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समालोचनाओं पर छायावादी काव्य-शैली का प्रभाव रहता है।

श्री सुधांशु की 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक पुस्तकें भी सैद्धान्तिक आलोचना से ही सम्बन्धित हैं। पं० रामदहिन मिश्र, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, बाबू गुलाबराय, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, ललिताप्रसाद सुकुल, विनयमोहन शर्मा तथा डॉ० भगीरथ मिश्र आदि महानुभावों ने साहित्य के विभिन्न अंगों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।

भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का समन्वय करके विभिन्न साहित्यकारों की समीक्षा करने वाले आलोचकों में डॉ० त्र्येन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, देवराज उपाध्याय और डॉ० देवराज उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य के प्रगतिवादी आलोचकों ने आलोचना के क्षेत्र में नवीन आदर्श और मापदण्ड का समावेश किया है। यद्यपि प्रगतिवादी साहित्य में प्रचार या प्रोपेगण्डे की भावना का प्राधान्य है, तथापि आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी आलोचकों की विशेष देन है। श्री शिवदानसिंह चौहान प्रगतिवादी आलोचकों में अग्रणी हैं, समाज-विज्ञान तथा प्रगतिशील साहित्य के विस्तृत अध्ययन के कारण आपकी विवेचना-पद्धति बहुत सुलभी हुई और सुष्ठु है। आपकी लिखी हुई आलोचना परिमाण में थोड़ी होने पर भी गहराई और सचाई से पूर्ण है।

डॉक्टर रामविलास शर्मा श्रेष्ठ प्रगतिवादी आलोचक समझे जाते हैं। निःसन्देह उनकी आलोचना-शैली अपनी विशेषताएँ रखती हैं। उनका विषय का अनुशीलन भी गम्भीर है। प्रेमचन्द पर लिखी हुई उनकी पुस्तक वस्तुतः इस विषय की उत्तम पुस्तक है।

सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, अज्ञेय, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय तथा प्रभाकर माचवे भी श्रेष्ठ प्रगतिवादी आलोचक हैं। अज्ञेय जी व्यक्तिवादी हैं उनका अपना एक दृष्टिकोण है। जिसके सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही पक्ष हैं। उन्होंने किसी विशेष इतिहासिक व्याख्या को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया। इसी कारण उनकी आलोचना दलगत भावनाओं से पूर्ण नहीं। अज्ञेय जी ने दर्शन और साहित्य के समन्वय का प्रयत्न किया है। उपाध्याय जी की आलोचना इतिहासिक आधार पर आधारित होती है। उन्होंने आलोचना के समाज-शास्त्रीय पक्ष पर अधिक बल दिया है। अमृतराय ने भी इस दिशा में पर्याप्त लिखा है। उनका अध्ययन विस्तृत और अनुशीलन-प्रवृत्ति अत्यन्त सजग है, परन्तु दलगत भावनाओं से वे भी ऊपर नहीं उठ सके। आदित्य मिश्र, चन्द्रबलीसिंह, त्रिलोचन, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' तथा नेमिचन्द्र द्वारा लिखित कुछ आलोचना-सम्बन्धी लेख भी अच्छे बन पड़े हैं।

इधर कुछ दिन से हिन्दी के विभिन्न साहित्यकारों से इण्टरव्यू लेकर उनकी कला तथा लेखन-शैली पर समीक्षात्मक लेख भी लिखे गए हैं। इस दिशा में श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके इस प्रकार के लेखों का संग्रह 'मैं इन से मिला' नामक पुस्तक में हुआ है। इसके दो भाग प्रकाशित भी हो चुके हैं। इण्टरव्यू को हम आलोचना के अन्तर्गत ही ले सकते हैं। यह शैली इतनी लोकप्रिय हुई है कि अब और लोगों ने भी इस प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये हैं।

हाल में ही श्री यशदेव की 'पन्त का काव्य और युग' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। यद्यपि इस पुस्तक में उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी है, परन्तु वे दलगत भावनाओं में नहीं फँसे। पन्त जी पर लिखी गई यश जी की आलोचना आलोचना है, प्रशस्ति नहीं, जैसाकि अब तक होता रहा था।

इस प्रकार हिन्दी-समालोचना आज उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होती जा रही है।

